

॥ ॐ सिद्धेभ्यः ॥

धर्म सुधारक-महान् क्रान्तिकार श्रीमान् लोंकाशाह

का

संक्षिप्त परिचय



उन्नति और अवनति यह दो मुख्य अवस्थाएँ अनादिकाल से चली आती हैं। जो जाति, धर्म या देश कभी उन्नत अवस्था में थे, वे समय के फेर से अवनत अवस्था को भी प्राप्त हुए, इसी प्रकार जो अस्ताचल में दिखाई देते थे, वे उन्नति के शिखर पर भी पहुँचे, एकसी अवस्था किसी की नहीं रहती। जैन इतिहास को जानने वाले अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की

उन्नत अवतल अवस्थाओं से मली भांति परिचित हैं। तद्
 मुसार जैन धर्म को भी कई बार अनुकूल और प्रतिकूल
 अवस्थाओं में रहना पड़ा। इतिहास साक्षी है कि भगवान्
 पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के मध्यकाल में कितना परि-
 वर्तन होगया था, धर्म संस्कृति में कितनी गिरिलता आ
 गई थी धर्म के नाम पर कितना भयकर अंधेरे फैलता था,
 नर हत्या में धर्म भी ऐसे ही निरुद्ध समय में माना जाता था
 ऐसी दुरावस्था में ही अहिंसा एवं त्याग के अवतार भगवान्
 महावीर स्वामी का प्रावृत्त हुआ और पावन एवं अम्य
 विश्वास का नाश होकर यह पशुम्यत्र एक बार और अमर
 पुरी से भी बाजी मारने लगी मध्यलोक भी उर्ध्वलोक (स्वर्ग
 धाम) बन गया परमेश्वर्यशाली देवेन्द्र भी मध्यलोक में
 आकर अपने को माग्यशाली समझने लगे, यह सब जैनधर्म
 की उन्नत अवस्था का ही प्रभाव था ऐसे कष्टावस्था पर
 पहुँचा हुआ जैन धर्म थोड़े समय के पश्चात् फिर अवतल
 गामी हुआ होते २ यहाँ तक स्थिति हुई कि धर्म और पाप
 में कोई विग्रह अन्तर नहीं रहा। जो कृत्य पाप माना जाकर
 त्याग्य समझा जाता था वही धर्म के नाम पर अपायेय माना
 जान लगा। हमारे तारण तिरङ्ग जो पृथ्वी आदि पटकाया
 के प्रायः षण्ण को सर्वथा हेय कहते थे वही प्रायः षण्ण धर्म के
 नाम पर अपायेय हो गया। मन्दिरों और मूर्तियों के जगकर
 मेंपड़कर त्यागी वर्ग भी हम गृहस्थों जैसा और कितनी ही
 बातों में हम से भी बड़बड़ कर मोगी हो गया। स्वार्थ
 साधना में मन्दिर और मूर्ति भी मारी सहायक हुई मन्दिरों
 की जागीर लागू देवस बड़ाया आदिसे द्रव्य प्राप्ति अधिक
 होने लगी। भगवान् के नाम पर भक्तों को उल्लू बनाता

ता जैसे चढ़ाये धर्म की कोई भी
 १। धन, जन, सुख एवं इच्छित
 शक्त जन विविध प्रकार की मान्य-
 । इस प्रकार त्यागी वर्ग ने धर्म के
 २। लाकर विविध प्रकार से मन्दिर
 । और इस प्रकार पाखण्ड एवं श्रंघ
 ना ही अपना प्रधान कर्तव्य बना
 भी वही स्वार्थ पूरित नूतन ग्रन्थ,
 महात्म्य आदि जनता को सुनाने लगे
 मन्दिरों के सुन्दराकार पाषाण को
 ३। लगी । सत्य धर्म के उपदेशक टूटने
 । होगये, इस प्रकार अवनति होते होते
 उत्पन्न होने लगी, जब ऐसे निकृष्ट
 । को फिर एक महावीर की आवश्यकता
 के बहुत समय से गहरी जड़ जमाये हुए
 इन होना असम्भव था, ऐसे विकट समय
 ४। को प्रकृति ने एक धीर प्रदान किया ।

ब्रह्मदी शताब्दी के वृद्धकाल में जैन समाज
 १।, और भगवान् महावीर के शास्त्रों में छिपे
 २।तों का प्रचार कर पाखंड का विध्वंस करने
 ३।न जाति में दूसरा धर्म क्रांतिकार श्रीमान्
 प्रादुर्भाव हुआ । श्रीमान् अपनी प्राकृतिक प्र-
 ४।यकाल ही में प्रौढ़ अनुभवियों को भी मार्ग दर्शक
 ५।रत्न परीक्षा में निपुण एवं सिद्धहस्त थे एक
 ६। परीक्षा में आपने बड़े २ अनुभवी एवं वृद्ध

श्रीहरिर्नाम। श्री आपनी परीक्षा बुद्धि से चकित कर दिगा।
 तदनुसार आप राज्यमाप्त्य भी हुए कुछ समय तक आपने
 राज्य के कोषाध्यक्ष के पद को भी सुशोभित किया तदन्तर
 किसी विशेष घटना से संसार से उदासीनता होने पर राज्य
 काज ही मिथुरा दो, आत्मचिन्तन में लगे। श्रीमान् पठन
 गानन के पक्ष शीघ्रिण थे, ललित संयोगों में आपने जैम आगमों
 का पढ़त एवं मनन किया जिससे आपके अन्तर्बुद्धि एकवचन
 लुप्त गये, पुनः २ शास्त्र स्वाध्याय एवं मनन होमे लगा, साथ
 ही धर्मशास्त्र समाज पर दृष्टिपात की। शास्त्रों के पठन मनन
 ही श्रीमान् की परीक्षा बुद्धि एकवचन सत्तेज होगई। समाज
 में देखे हुए पाण्डव और अर्धविश्वास से आपको अपार
 क्रोध हुआ और से छोर तक विषम परिस्थिति देखकर आपने
 पुनः पुनः धर्म को असह्य स्वरूप में लाने के लिये पूज्य
 पुरोहित तत्त्व विषयक विचार विनिमय किया परिव्राम में
 शीघ्र आचारिता एवं स्वाध्यायपरता का तापद्वय दिखाई दिया
 तब भीतराग माग की यह अवस्था इस भीर आत्मचर्च से
 तभी देखी गई तब स्वयं दृढ़ता पूर्वक कटिबद्ध हो प्रवृत्त किया
 कि ॥ अपने जीतेजी जिन मार्ग को इस अवगत अवस्था
 में आग्रह गार कर शुद्ध स्वरूप में लावना और शुद्ध जैनत्व
 का पचाव कर पाण्डव के पहाड़ को मष्ट करवना इस पुनीत
 कार्य में भल ही मेरे प्राण चले जाय पर ऐसी स्थिति में शक्ति
 तत्त्व की भा महन नहीं कर सकता ॥ शीघ्र ही आपने
 उपहार का मिनाह किया पाण्डव की अर्धे दिख गई, पाण्डवी
 १५५ गये इस भीर का प्रण ही पाण्डव को तिरोहित करने
 का ॥ लगे हुआ। लगे सद्यर्मे का प्रचार करने अनता
 ॥ १५५ गये की प्रादक होती है। अब तक सच्चे रत्न

की परीक्षा नहीं हो तभी तक कांच का टुकड़ा भी रत्न गिना जाता है, पर जब असली और सच्चे रत्न की परीक्षा होती है तब कोई भी समझदार कांच के टुकड़े को फेंकते देर नहीं करता। ठीक इसी प्रकार जनता ने आपके उपदेशों को सुना, सुनकर मनन किया, परस्पर शंका समाधान किया परीक्षा हो चुकने पर प्रभु वीर के सत्य, शिव, और सुन्दर सिद्धांत को अपनाया, पाखंड और अन्धश्रद्धा के बंधन से मुक्ति प्राप्त की। एक नहीं सैकड़ों, हजारों नहीं, किन्तु लाखों मुमुक्षुओं ने भगवान् महावीर के मुक्तिदायक सिद्धांत को अपनाया, सैकड़ों वर्षों से फैले हुए अन्धकार को इस महान् धर्म क्रांतिकार लोकमान्य लोकाशाह ने लाखों हृदयों से विलीन कर दिया। मूर्तिपूजा की जड़ खोखली होगई। यदि यह परम पुनीत आत्मा अधिक समय तक इस वसुन्धरा पर स्थिर रहती तो सम्भव है कि—निहव मत की तरह यह जड़पूजा मत भी सदा के लिये नष्ट हो जाता, किन्तु काल की विचित्र गति से यह महान् युगसृष्टा वृद्धावस्था के प्रातः काल ही में स्वर्गवासी बन गये, जिससे पाखंड की दृढ़ भित्ति बिल्कुल घराशायी नहीं हो सकी।

श्रीमान् के ज्ञानबल और आत्मबल की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, इसी आत्मबल का प्रभाव है कि एक ही उपदेश से मूर्तिपूजकों के तीर्थयात्रा के लिये निकले हुए विशाल संध भी एकदम जड़पूजा को छोड़ कर सच्चे धर्म-भक्त बन गये। क्या यह श्रीमान् के आत्मबल का ज्वलन्त प्रमाण नहीं है? यद्यपि स्वार्थप्रिय जड़ोपासक महानुभावों ने इस नर नाहर की, सभ्यता छोड़कर भर पेट निन्दा की

है, किन्तु सिप्यस्य सुख जनता के हृदय में इस महापुरुष के प्रति पूर्ण आदर है। इतिहासक इस अलौकिक पुरुष को सुधारक मानते हैं। यही क्यों? हमारे मूर्तिपूजक बन्धुओं की प्रसिद्ध और अबाधवार संस्था 'जैनधर्म प्रसारक समा माधमगर' में प्रोफेसर हेसमुद्रगुप्ताजेनाप के अर्मम ग्रन्थ 'जैमिज्म' का माधमन्तर प्रकाशित किया है उसमें भी श्रीमान् को सुधारक माना है और सारे संघ को अपना अनुपायी बनाने की ऐतिहासिक सत्य घटना को भी स्वीकार किया है। देखिये वहाँ का अन्तर्दृष्टि—

तत्तुंजयनी बाबा करीने एक संघ अमरनाथ बहने बगो हटो तेने एखे पोताना मतनो करी नाबो " (जैन धर्म पृ ७१)

ऐसे महान् आत्मबली और की जेपयस्य धर्म निम्ना करने वाले सचमुच क्या के ही पात्र हैं।

इस यहाँ संक्षिप्त परिचय देते हैं। अतएव अधिक विचार यहाँ नहीं कर सकते। किन्तु इतना ही बताना आवश्यक समझते हैं कि—

श्रीमान् लोकाशाह में जैन धर्म को अवलोक करने में प्रथम कारण शिविलाचार बर्द्धक, पाकपट और अग्नि विभास का जननी मद्र जनता को उस्तु बनाकर स्वार्थ पोषण में सहायक ऐसी जैनधर्म विद्वत् मूर्तिपूजा का सर्व प्रथम बहिष्कार कर दिया जो कि जैन संस्कृति एवं आगम आशा की घातक थी यह बहिष्कार न्याय संगत और धर्म सम्मत था और था प्रौढ़ अभ्यास एवं प्रबल अनुभव का पुनीत फल। क्योंकि मूर्तिपूजा धर्म कर्म की घातक होकर मानव

को अन्धविश्वासी बना देती है और साथ ही प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग भी करवाती है। मूर्तिपूजा से आत्मोत्थान की आशा रखना तो पत्थर की नाव में बैठ कर महासागर पार करने की विफल चेष्टा के समान है।

श्रीमान् लोंकाशाह द्वारा प्रबल युक्ति एवं अकाद्य न्याय-पूर्वक किये गये मूर्तिपूजा के खण्डन से जड़पूजक समुदाय में भारी खलबली मची। बड़े २ विद्वानों ने विरोध में कई पुस्तकें लिख डाली किन्तु आज पांच सौ वर्ष होने आये अब तक ऐसा कोई भी मूर्तिपूजक नहीं जन्मा जो मूर्ति पूजा को वर्द्धमान भाषित या आगम विधि (आशा) सम्मत सिद्ध कर सका हो। आज तक मूर्ति पूजक बन्धुओं की ओर से जितना भी प्रयत्न हुआ है सब का सब उपेक्षणीय है। वस इसी बात को दिखाने के लिए इस पुस्तिका में श्रीमान् लोंकाशाह के मूर्तिपूजा खण्डन के विषय में मूर्तिपूजकों की कुतर्कों का समाधान और श्रीमान् शाह की मान्यता का समर्थन करते हुए पाठकों से शांतचित्त से पढ़ने का निवेदन करते हैं।



॥ श्री ॥

श्री लोकाशाह मत-समर्थन

गुजराती संस्करण पर प्राप्त हुई

सम्मतियाँ

(१) भारत रत्न शतावधानी पंडित मुनि राज श्री रत्नचन्द्रजी महाराज और उपाध्याय कविवर मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज साहय की सम्मति--

लोकाशाह मत-समर्थन' अपने विषय की एक सुन्दर पुस्तक कही जाती है लोकाशाह के मतधर्मों पर जो इधर उधर से आक्रमण हुए हैं संग्रह में इन सब का संक्षेप उल्लेख देने का प्रयत्न किया है। और लोकाशाह के मतधर्मों का आगम मूलक प्रमाणित किया है। उदाहरण के रूप में जो मूल पाठ दिए हैं वे प्रायः शुद्ध नहीं हैं। अतः अगले संस्करण में उन्हें शुद्ध करने का ध्यान रखना चाहिए।

मतभेदों को एकान्त बुरा नहीं कहा जा सकता, और उन पर कुछ विचार चर्चा करना यह तो बुरा हो ही कैसे सकता है ? जहां मिठास के साथ यह कार्य होता है वह उभय पक्ष में अभिनन्दनीय होता है, और आगे चलकर वह मत भेदों को एक सूत्र में पिरोने के लिए भी सहायक सिद्ध होता है। हम आशा करेंगे कि—इस चर्चा में रस लेने वाले उभय पक्ष के मान्य विद्वान् इस नीति का अवश्य अनुसरण करेंगे।

(२) श्रीमान् सेठ वर्धमानजी साहब पीत-
लिया रत्नलाम से लिखते हैं कि—

हमने लोंकाशाह मत समर्थन पुस्तक देखी, पढ़कर प्रसन्नता हुई। पुस्तक बहुत उपयोगी है अलवत्ता भाषा में कितनी जगह कठोरता ज्यादा है वो हिंदी अनुवाद में दूर होना चाहिए, जिससे पढ़ने वालों को प्रिय लगे। पुस्तक प्रकाशन में प्रश्नोत्तर का ढंग और प्रमाण युक्ति संगत है।

(३) युवकहृदय मुनिराज् श्री धनचन्द्रजी
महाराज की सम्मति—

आपकी लोंकाशाह मत समर्थन पुस्तक स्या० समाज के लिए महान् अस्त्र है। जो परिश्रम आपने किया उसके लिए धन्यवाद। ऐसी पुस्तकों की समाज में अत्यन्त आवश्यकता है। आपकी लेखनी सदैव जिनवाणी के प्रचार के लिए तैयार रहे।

स्नानक्रवासी जैन कार्यालय अहमदाबाद
में थाई हुई सम्मतियों में से कतिपय सम्मति
यों का मार—

(४) पूज्य श्री गुलाबचन्दजी महाराज
(विचकी सम्प्रदाय)

लोकेश्वर मठ-समर्थन पुस्तक पाँचठां प्रसंग आत्म धर्मो,
आवा उत्तम प्रयास ब्रह्म छेकाक रत्नमाला दोरी में प्रस्यवाह
घटे छे अनेक प्रमाणो सहित आ पुस्तक की रूपा जैन समाज
की धर्म अन्तर्गत छे ।

(५) पूज्य श्री नागजी स्वामी (कच्छ
मांडवी)

श्री लोकेश्वर मठ-समर्थन जैन जनता माटे प्रयुक्त रूप
योगी अने प्रमाणित पुस्तक छे ।

(६) पूज्य श्री उत्तमचन्द्रजी स्वामी, (वरिया
पुरी सम्प्रदाय)

लोकेश्वर मठ-समर्थन नामगुं पुस्तक प्रयुक्त सार छे ।

(७) श्रीयुत भाईचन्द, एम लखवाणी करांची—

लोकेश्वर मठ-समर्थन नामगुं पुस्तक बाँची प्रयोग
आत्म धर्मो छे ।

(૮) શ્રીયુત રાગવજી પરસોત્તમજી દોશી

ધાકા—

હાલમાં લૉકાશાહ મત સમર્થન ની ચોપડી છપાયેલ છે, તે મારા વાંચવા થી ઘણોજ ખુશી થયો છું, રૂપયા ૨) મોકલું છું તેની જેટલી પ્રતો આવે તેટલી ગામડામાં પ્રચાર કરવો છે માટે ફાયદે થી મોકલશો, આ બુક માં સૂત્ર સિદ્ધાન્ત અનુસાર ઘણા સારા દાખલા આપ્યા છે તે વાંચી હું ખુશી થયો છું ।

(૯) શ્રીયુત જેવન્દ અજરામર કોઠારી સિવિલ સ્ટેશન રાજકોટ સે લિખતે હૈં કિ—

આપનું લૉકાશાહ મત-સમર્થન અને મુખવસ્ત્રિકા સિદ્ધિ વન્ને પુસ્તક વાંચ્યા, બે ત્રણ વાર અથ રૂપિયા ૨) મોકલું છું તેની જેટલી પ્રતો આવે તેટલી ગામડામાં પ્રચાર કરવો છે માટે ફાયદે થી મોકલશો, આ બુક માં સૂત્ર સિદ્ધાન્ત અનુસાર ઘણા સારા દાખલા આપ્યા છે તે વાંચી હું ખુશી થયો છું ।

(૧૦) શ્રીયુત વેચરદાસજી ગોપાલજી રાજ-કોટ સે લિખતે હૈં કિ--

લૉકાશાહ મત સમર્થન પુસ્તક વાંચ્યું છે, વાંચી મને ઘણોજ આનન્દ થયો છે, આમાં જે કાંઈ પુરાવા આપ્યા છે, તે વધા ઘરાવર છે, મુખવસ્ત્રિકાસિદ્ધિ છપાયું હોય તો જરૂર મોકલશો ।

(११) सदानदी जैन मुनि श्री छोटालाखजी
महाराज एक पत्र द्वारा निम्न प्रकार से
स्था० जैन के सपादक को लिखते हैं—

॥ अमिनन्दन ॥



पोतानी महत्ता बघारखामा अंतराय पड़े अने वैतम्य
पूजानी महत्ता बघे ते मूर्तिपूजक समाजमा साधु महापुरुषों
अने गृहस्थों ने कोई पक्ष रीते रखतुं न होया बी कोई न
कोई बहानुं मसता स्थानकपासी समाज ऊपर आपानो
संयम गुमाबीने अनेक प्रकारना आक्षेपो बारम्बार कर्बाज
करे छे अने जाणे स्थानकपासी समाजनु अस्तित्वज मझा-
फी वैतुं होय तेवो प्रयत्न सेबी रहेल छे ।

आ आक्रमणो न्याय पुरस्सर आपासमिति ने साखबी
ने पक्ष अपाय आपणा जेरलीय अमारी समाजमा परिहता
विद्वानो अने मणी मणी मेकमेसी पदवीना पदवीघटो ने
अराय फुरसद मधी मोटे भागे अपयाय सिपाय बरेक ने
पोताना मान पान बघारखानी अने बधुमा पोताना नामा
पाइने येम केन प्रकारे आसवी राखयानी अने पधीय वधु
मारा जैयाने अनेक अतिशयोक्ति भरेला पोतानी कीर्तिना
बखना फुकावयानी प्रवृत्ति आबे अराय फुरसद मसती नधी,
एपा पघते—

શ્રીમાન્ રતનલાલ દોશી સૈલાના વાલા શાસ્ત્રીય પદ્ધતિ-
 ઇ સ્થાનકવાસી સમાજની જે અપૂર્વ સેવા ચલાવી રહેલ છે,
 તે અતિ પ્રશંસનીય છે, અને એના માટે મારા અન્તઃકરણના
 અભિનન્દન છે ।

ઘણા વર્ષો પહેલાં પ્રોસેદ્ધ વક્તા શ્રીમાન્ ચારિત્રવિજયજી
 મહારાજે માંગરોલ બંદરે જનસમૂહ વચ્ચે વ્યાખ્યાન કરતાં
 કહેલું કે શ્વેતાશ્વર જૈન સમાજના બે વિભાગ સ્થાનકવાસી
 અને દેરાવાસી ૧૦૦ માં ૬૮ વાવતોમાં એક છે, માત્ર બે વાવતો
 માંજ વિચારમેદ છે તો ૬૮ વાવત ને ગૌણ બનાવી માત્ર બે
 વાવતો માટે લડી મરે છે તે ચરેચર મુર્ખાઈ છે, તેમનું આ
 કહેવું હાલ વધારે ચરિતાર્થ થતું હોય તેમ જોવાય છે ।

ટુંકામાં શ્રીયુત રતનલાલ દોશીને તેમની સ્થાનકવાસી
 સમાજની, અપ્રતિમ સેવા માટે ફરીવાર અભિનન્દન આપી
 પોતે આદરેલ સેવા યજ્ઞ ને સફલ કરવા, તેમાં આવૃતા વિદ્યો-
 થી ન ડરવા સૂચના કરી સ્થાનકવાસી સમાજના મુનિવર્ગ
 અને શ્રાવક વર્ગને આગ્રહ ભરી વિનંતી કરું છું કે—શ્રી
 રતનલાલ દોશી ને બનતી સેવા કાર્યમાં સહાય કરવી, અને
 વધુ નહીં તો છેવટ સ્થાનકવાસી જૈનધર્મની અભિવર્ધા અર્થે
 તેની સત્યતા અર્થે તેમના તરફથી જે જે સાહિત્ય પ્રકટ થાય
 તેનો વધુમા વધુ ફેલાવો કરવો, એક પણ ગામ એવું ન હોવું
 જોઈએ કે જ્યાં એ દોશીના લખેલ સાહિત્યની ૨-૫ નકલો ન
 હોય । હિંદીમાં હોય તો તેનો ગુજરાતીમાં અનુવાદ કરીને
 તેનો પ્રચાર કરવો ।

શ્રી રતનલાલ દોશી ને તેમના સમાજ સેવાનાં કાર્યમાં
 સાધન, સંયોગ, સમય, શક્તિ એ સર્વની પૂરની અનુકૂલતા
 મળે એવી આ અન્તરની અમિલાષા છે । ૐ શાન્તિ !

मू० पू० जैन पत्र की विरोधी आलोचना

“जैन” भावनगर ता अश्वगस्त १९३७ पृष्ठ ७३३

अभ्यास अने अवलोकन

अन्तर कलेश नोतरतु ए अयोग्य प्रकाशन

[ले० अभ्यासी]

आज एक मारा मित्रे स्यामकवासी जैन पत्रमी चौथा पयमी मेटनु पुस्तक मने मोक्षस्युं छे, आ पुस्तकनु नाम के लोकाशाह मत-समर्थन” पुस्तकनु नाम जोता मने बखीअ छुशासी वपजी के ठीक थयुं आ पुस्तक लेखके लोकाशाह संबंधे प्राचीन अर्थाचीन प्रमाणो शोधी काही खास लोकाशाह नु मन्तव्य प्रकाशित कर्युं हथे भाखु पुस्तक उत्साह भरे पुर्ब बांकी नारयुं परन्तु आका पुस्तकमा कयांथ लोकाशाहमा मत नुं समर्थन नथी समर्थन तो बूर रह्युं किन्तु लोकाशाहमा एक पक्ष सिद्धांत नुं विधान पक्ष नथी कर्युं आ पुस्तक बांजबा पढ़ी मने साग्यु के लोकाशाहमा कोई सिद्धांत नथी कबि घर सावणयसमये तो जास ज्ञान्युं हनु के लोकाशाहे पूजा प्रतिफलण सामायिक पौण्य, वषा आदिमो लोपय कर्यो छे आ बधानो लोप लोकाशाहे कर्यो छे तो पढ़ी तेमा मत नुं समर्थन शानु थाप ! पटले भाई एतमसास ने शोधवा नीकलनु पड़्युं के के लोकामो मत शो ! अन्ते तेमा निराशा सांपड़वाधी तेभोमे श्वेताम्बर मत निम्हा पुराण एचहुं पड़्युं टाप एम सानो छे ।

आजथी त्रण वर्ष पहेलां स्थानकवासी समाजना मनाता यशस्वी लेखक संतवालजीए स्थानकवासी कोन्फ्रेन्सना मुखपत्र 'जैन प्रकाशमां' श्रीमान् लोंकाशाहना नामनी लांबी लेखमाला लखी हती ते वखते पण तेमणे लख्युं हतुं केजोंका-शाहनुं जीवन चरित्र नथी मलतुं छतांय तेमणे स्थानक-मार्गी समाज ने पसंद पड़े तेवुं सुन्दर कल्पनाचित्र दोरी ए चरित्र लावी लेखमाला रुपे रजु कर्युं हतुं, अने तेमां केटलाक श्वेताम्बर आचार्यो माटे अभर्यादित लखाण लखायेल ! जेनो सुन्दर जवाब श्वे० समाजना विद्वान् साधुओए अने श्रावको-ए आप्यो हतो, अने चर्चाए एवु तीव्र स्वरूप लीधुं हतुं के उमय पक्षने नजीक आघवाना आजे जे प्रयासो थाय छे ते शुभ मुदार वर्षो माटे दूरने दूर ठेलाय ।

आ कड़वो प्रसंग हजु क्षितिज पर थी दूर थतो आवे छे त्यां ए वितरडावादमांज शासन सेवा होय तेम मानीने के गमे ते आशय थी आजे आ पुस्तक प्रकट करी जैन समाजना दुर्भाग्यनो एक कड़वो प्रसंग उभो कर्यो छे ।

आ पुस्तक वांचनार कोई पण भाई स्हेजे कहेशे के आवा "लोंकाशाह मत-समर्थन" ना नाम नीचे श्वेताम्बर आचार्यो नी पेट भरीने निन्दा करवामां आवी छे, मूर्तिपूजानुंज मर्या-दित शैलीए खण्डन करवामा आव्युं छे, मूर्तिपूजानु खंडन ए कांई भारतनी प्राचीन आर्य संस्कृति नथी, इस्लामी समय-थी जगतमां मूर्तिपूजानो विरोध शुरू थयो अने ते अनार्य सस्कृतिना फल स्वरूप इस्लामी संस्कृतिमांज उत्पन्न थयेल इस्लामी युगमांज फलेल फूलेल दुंढक मतना उपासकोए

जैनधर्ममां मूर्तिपूजानो विगंध बाधस्त कर्णो ए वस्तुना निरु
पण् मादेज स्थानकवासी जैन पत्रे आ पुस्तक प्रगट कर्नु होय
तेम स्पष्ट ज्ञाया आबै दे ।

“सुरि महात्मायोगा ष्टेकाववायी’ शुद्ध भस्मयी पसित
आत्मारामजी’ ‘मयावी राखेसा तोता ‘आ गरबड़ गोटाहो
सावय गुरु घंटाहो पञ्ज कर्णोहे ‘मूर्ति पाइवानो अइयो
सगावो हे मूर्तिपूजा करवानु शास्त्रीय सिद्धान्त हे एबी
जीग मारबीए मूर्तेता हे’ स्वामीजीए (आत्मारामजीए) जीग
मारी हे तेमनु कथन मिथ्या हे’ कैत्यशब्द’ बी ष्टकी जइने
मूर्तिपूजानुं पाकएड सिद्ध करवु ए अभ्याय हे’ निर्युक्तिनो
अर्थ करतां आ स्थानकमार्गी पण्डित पोतामी पण्डितार
वताबै हे’ ‘निर्गता युक्तिनर्थस्याः निर्युक्ति करी रीते स्थानक
मार्गी समाज व्याकरणमे व्याधिकरण माने हे एताज आ
प्रताप ह’

‘आबी रीते भेलिक राजानुं हमेशा १०८ स्वर्ग जवघी
पूजवानु कथन गपोड़ शब्द हे महाविशिष्टमां मूर्तिपूजा-
नु कएवन तथा २ र्थीओना पोकसो पूजा करवामां आभ्यां
हे’ मूर्तिनी गुणगाथाधो कल्पित कहाणीमोज हे आ देशमां
गुलामीनु आगमम प्रायः मूर्तिपूजाबी अधिकता बी धनु हे’
‘त्रिपटिशताका पुरुषता रचता मे एखु कयु दिव्य ज्ञानप्रगट
धनु हनु हे जेबी तेमणे मरिचि मे बन्धन करवानी गण्य
हानि ! आ तो केवल गण्य सिवाय बीनुं कयु नबी आ मा
म्यता (पूजानी) एकान्त मिथ्यात्वोपासक तथा धर्म घातक
हे अरे स्वार्थीजनो ! मिथ्या बुतर्क उत्पन्न करी हिंसाने केम
प्राप्ताहम आपो हो ? सुरिओए आ अन्धेर लातु केम अलाम्युं ?

અમને તો તેમાં તેમની વિષય લોલુપતા તેમજ સ્વાર્થાન્વિતા જણાઈ આવે છે' 'માટે એ જિનમૂર્તિનો ઉપદેશ આપનાર નામધારી ત્યાગિઓ ભોગિઓની અપેક્ષાએ વધારે પાતળી સિદ્ધ થાય છે' 'આ આત્મારામજી મહારાજના ધર્મોપદેશનો નમુનો છે ? એમના અન્ધશ્રદ્ધાલુ ભક્તો કદી પોતાની બુદ્ધિ થી ××× વિચારતા નથી' 'એ ગુરુવર્યોએ પોતાના સ્વાર્થ પોષણ તથા ઇન્દ્રિય વિષયોને પૂર્ણ કરવાનો માર્ગ કાઢ્યો છે'

“આ કલિકાલ સર્વેશ્વ તથા મહાન્ આચાર્યની પદવી ધારણ કરનાર નામધારી જૈન સાધુઓએ કેવી રીતે પાતાના સાધુત્વ ને લાંછન લગાડ્યું છે ? હેમચન્દ્રાચાર્ય હતાતો સર્વેશ્વ ? નહીં તો સર્વેશ્વ વગર આવી વાત કોણ કહે ? પક્ષાન્ધના શું નથી કરાવતી’

જૈનધર્મેના આત્મકલ્યાણકારી તીર્થો અને તીર્થ યાત્રા માટે લેખક આ પ્રમાણે લખે છે:—

“પહાડોમા રહ્નહતા, આત્મારામજીએ પોતે પણ મૂળમા ધૂલ મેલવી ને અનન્ત સંસાર પરિભ્રમણ કરવા રૂપ ફલ પ્રાપ્ત કર્યું છે, મનમાની હાંકી અર્થનો અનર્થ કર્યો છે, ઉત્તરાધ્યયન નિયુક્તિકારે ગૌતમ સ્વામીને માટે સાક્ષાત્ પ્રભુને છોડી પહાડોમા ભટકવાનું લક્ષી માર્યું”

આવશ્યક નિયુક્તિકારે શ્રાવકોને મન્દિર બનાવવા, પૂજા કરવી વગેરે વિષયોમા અડગા લગાવ્યા' મૂર્તિપૂજક ગુરુગરિષ્ઠ પં० ન્યાયવિજયજી--ન્યાયનો खून કરનાર ન્યાયવિજયજી' 'ન્યાયવિજયજીએ ન્યાયનુ खून કર્યું છે, આવી અભિનિવેશમા ઉન્મત્ત વ્યક્તિઓ' 'શુદ્ધ શ્રદ્ધાંથી પતિત આત્મારામજી' 'મૂર્તિપૂજક વન્ધુઓ હમણા મૂર્તિપૂજા માનવા રૂપ ઉન્માર્ગ પર છે' ।

आधी आधी घण्टीय पुष्पाञ्जलिओ आ पुस्तकमा मरी हे
 श्री सागरामन्दसुरिजी श्री वल्लभसुरिजी मुनि श्री ज्ञान
 सुन्दरजी मुनि श्री परमविजयजी श्री लक्ष्मिसुरिजी आदि
 श्वेताम्बर समाजना विद्वानो में निद्वामां आ होइक आगल
 वर्या हे ।

आधी रीते कोई पण बितएडाबाद बमो करबामा स्या-
 मार्गि समाज पहेल करे हे कलेश नोतरे हे अन तेनो कोइ
 जबाब आपे पटले हसीसना अमाडे घबराइ जाय अशांति
 अशांतिनी बांग पोकारे, संतबासनी लोकमासना जबाबा
 अपाया पड़ी समाज शान्त हसी, पण आ नवा पंडितने ए
 शांति न गमी पटले मूर्तिपूजाना कएइमनु अने श्वेताम्बर
 चार्पोनी निम्दानु पुराण रबी नाक्यु करी रीते संतबासना
 जबाबमा मुमियाज श्री ज्ञानसुन्दरजी रचित मूर्तिपूजा का
 हातहास अने श्रीमान् लोकाशाह बम्ने पुस्तको हे आ बम्ने
 पुस्तका हुइक समाजमे पवा सचोद उत्तर आपनारा हे हे
 पंडित रतनदास जेजानां लोकको पुस्तको तेनी सामे मांजा
 पड़ी जाय तेम हे मूर्तिपूजाना जे पाठो जेठमलकीए समकित
 सारमा हरकचम्पकीए राजचम्प बिचार समीक्षामा अमो
 लकचुपिय पोतानी आशम बनीसीमा क्षय ह्यो लेख पाठो
 अने अर्थोधी ए पुस्तकोमां सिद्ध कयुं हे के जिनमूर्तिना पाठो
 शास्त्रोमां हे आ पाठो मे जुडा उराववा आ पंडित बहार
 पढ़्या हे पंडित बेखरदासना मूर्तिपूजा । बिचारो माटे राय
 पसंर्चाप नूबनो तेमनो अनुभाव ओबानी हुं मखामण कर हुं ।

मुनि सम्मेलन द्वारा स्थापित प्रतिकार समिति ने कास
 सूचना हे के आ ग्रन्थनु अचलोकन करी तेमां शास्त्रना पाठो

ना नामे जे भ्रम जाल उभी करी छे तेनो जवाब आपे, आ भ्रम जाल खास करीने कानजी स्वामी दुंढक मत छोडी निकल्या अने तेमनी पाछल वीजो समाज न जाय तेमने माटेज रचाणी छे, बाकी आ पुस्तकनो खरो जवाब तो कानजी स्वामी आदिए दुंढक मत त्यजो, मूर्तिपूजा स्वीकारी ने आपीज दीधो छे ।

उक्त विरोधी लेख का उत्तर “स्थानकवासी जैन” पत्र में गुजराती में ता० २१-८-३७ के पृष्ठ ५१ में और हिंदी में जैन पथ प्रदर्शक” में ता० २५-८-३७ के अङ्क के पृष्ठ ५ के दूसरे कॉलम से निम्न प्रकार से दिया गया है ।

मि० अभ्यासी की अवलोकन दृष्टि

‘लों काशाह मत-समर्थन’ पर मूर्तिपूजक ‘जैन’ पत्र के किसी पर्देनशीन अभ्यासी (विद्यार्थी) की दृष्टि पड़ी । अभ्यासी महोदय ने ता० ८ अगस्त ३७ के अङ्क में ‘अभ्यास अने अवलोकन’ शीर्षक में जो कलम चलाई है वह वास्तव में उनके अपूर्ण अभ्यास की सूचना है । यद्यपि अभ्यासी बन्धु ने लोंकाशाह मत-समर्थन के लिए ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया, जिससे उसकी सत्य एवं प्रमाणिकता में बाधा पहुंचे, और मुझे अपने निबन्ध की सत्यता के विषय में लेखक को कुछ सूचना देनी पड़े, तथापि अभ्यासी महोदय के अभ्यास की अपूर्णता एवं तत् सम्बन्धी दृष्टियों को दूर करने के लिए निम्न पंक्तियां लिख देना उचित समझता हूँ ।

१—अभ्यासी बन्धु को ‘लोंकाशाह मत-समर्थन’ में लोंकाशाह के मत का समर्थन ही नहीं सूझा यह तो है अवलोकन

की बलिहारी । हम परसे इतना तो सहज ही मालूम देता है कि—अभ्यासक महोदय कदाचित् अभ्यास सम्बन्धी प्रथम श्रेणी के ही कृष्ण (बालक) हों । जिस समाज के वे संपूर्ण हैं उसके प्रवक्ता ही श्रीमान् धर्मप्राण लोकाशाह को मूर्तिपूजा उत्थापक मूर्तिपूजा के विरोधक कटकर सम्बोधन करते हैं वे सब यह मानते हैं कि श्रीमान् लोकाशाह वे मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई थी वस अभ्यासी माई को समझ लेना चाहिए कि उसी सत्य पर्यं सिद्धांत मार्ग आवाज के समर्थन रूप यह पुस्तक है । इतना भी ज्ञान यदि अभ्यासी वधु को होता तो उन्हें अपनी कलम कृपाण को खसाने का मौका नहीं आता ।

आगे चलकर हम अभ्यासी वधु श्रीमान् लोकाशाह को सामायिक औपचार्य तथा शानादिक शोष करने वाला कहते हैं और प्रमाण में लावण्यसमय का नाम उच्चारण करते हैं यह सर्वथा अनुचित है । हमारे इन भोले माई को ध्यान में रखना चाहिए कि—लोकाशाह के शब्द उन पर चाहे सो आक्षेप करें पर वह प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार अमी चाणू दिन पहले आपके इसी 'जेन' पत्र के किसी तुच्छ लेखक से इस मदान् प्रवक्ता को बेर्या पुत्र कह डालने का तुम्हास किया था (और फिर दार्मिक दिल गिरी प्रकट कर अमी मृपायादिना प्रकट की थी) वैसे ही आगे चलकर फिर कोई महानुभाव आपके जन पत्र के पूर्व के नीचे आक्षेप वाले लेख का प्रमाण देकर लोकाशाह को बेर्या पुत्र सिद्ध करने की कुशेष्टा करें तो क्या वह प्रामाणिक हो सकेगी ? हरगिज नहीं । इसी प्रकार जिन मूर्तिपूजकों में

श्रीमान् लोकाशाह के विषय में पूर्व व पश्चात् लेखनी उठाई है और गालिया प्रदान की हैं उनका प्रमाण देना सर्व-था अन्याय है ।

यदि अभ्यासी बन्धु जरा प्रौढ़ बुद्धि से विचार करते तो उन्हें सूर्यवत् प्रकट मालूम देता कि—जिन महापुरुष को मैं सामायिक, दया, दानादि के उत्थापक कहने की धृष्टता करता हूं, जरा उनके अनुयाइयों की ओर तो मेरी अवलोकन दृष्टि डालू कि— वे उक्त क्रियाएं करते हैं या नहीं ? यदि इतना कष्ट भी आपने किया होता तो यह बृहद् भूल करने का अवसर नहीं आता ।

अरे अनऽभ्यासी बन्धु ! जरा लोकाशाह के अनुयाइयों की ओर तो आंख उठाकर देखो, उनके समाज में सामायिक, प्रतिपूर्ण पौषध, प्रतिक्रमण, त्याग, प्रत्याख्यान, दया, दान आदि किस प्रकार प्रचुर परिमाण में होते हैं । उनके सामने तो आपकी सम्प्रदाय में उक्त क्रियाएं बहुत स्वल्प मात्रा में होती हैं । फिर आपका अभ्यासरहित वाक्य किस प्रकार सत्य हो सकता है ? क्या जिस समाज में जो क्रियाएं प्रचुरता से पाई जाती हैं उनके लिए उनके पूर्वजों को उत्थापक कह डालना मूर्खता नहीं है ? अतएव लोकाशाह मत-समर्थन में जो मूर्तिपूजा विषयक निवार किया गया है वह लोकाशाह मत-समर्थन अवश्य है ।

२—अनऽभ्यासी बन्धु लोकाशाह के लिए इस्लाम संस्कृति की दुहाई देते हैं, इस विषय में अधिक नहीं लिखकर केवल यही निवेदन किया जाता है कि भाई साहब !

प्रथम यह तो बताइए कि—यह पीतयसम गृहस्थों से पर
जम्पी, भार यहम अमर्य बखम, दण्ड प्रयोग आदि किस
जैन साधुस्य संस्कृति का परिणाम है।

महाशय ! न तो मूर्तिपूजा ही जैन संस्कृति है न तब
सम्बन्धी उपदेश देना जैन साधुस्य संस्कृति है। यह है केवल
अजैन एवं सांसारिक संस्कृति ही जिनके प्रभाव में आकर
यह हेतु प्रकृति जैन समाज में इतनी घुमि पाई है।

३—अध्यासी महाशय माया शैली के लिए एतराज करते
हैं किन्तु इसके पृथक् इन्हें अपने कहे ज्ञान वाले न्यायांमा
मिथि युगावतार महारमा रचित सम्यक्त्व शब्दोच्चार का
भाषा साधुर्य देकर जेना आदिप जिनमें उस सिद्धमयी महा
नुमाय में साधुमार्गी समाज के परम माननीय पूजनीय श्री
धीमद ज्येष्ठमहर्षी महाराज के लिए निम्न शब्द काम में
लिए हैं—

'जेठा मूर्धमति जेठा निहव जेठे के बाप के चौपड़े में
लिखा है' आदि।

इसी प्रकार धीमनी महासती पावैतीजी को दुर्मतिजी
आदि दुर्गन्ध अमर्यजयजी ने लिखे हैं और जैन स्वयं में
प्रसिद्ध प्राप्त बल्लभविजयजी का ता कहना ही क्या है।
उन्होंने तो पुणना रिकार ही तोड़ डाला।

इसके सिवाय अध्यासी महानुभाव को ज्ञानसुन्दरी के
मुक्त प्रकाशनों के शब्द तो मधुर ही आविष्ट होते होंगे क्यों
कि वे तो इसके मुक्त हैं और लिखा गया है इनके विरोधियों
(स्थानकवासियों) के विरुद्ध उनके शब्द तो अश्लील होते
हुए भी इन्हें अमृत सम ग्रिह लगते हैं, पर जरा समझ

सेम्पल भी तो चखिये, वे हमारे पूज्य लोंकाशाह को निहव हमारे पूज्य महात्माओं को कुलिंगी, नास्तिक, उत्सूत्र प्ररूपक, शासन भंजक, आदि नीच सम्बोधनों से याद किया है, जिसका कटुफल तो अभी उन्हें भोगना बाकी ही है। इसके लिए आपको व उन्हें तैयार रहना चाहिए।

४—जिस ज्ञानसुन्दरजी के वर्तमान प्रकाशन की अभ्यासी भाई सराहना करते हैं, उसमें कितनी कल्पितता भरी है, यह तो उसके उत्तर के प्रकट होने पर ही आपको मालूम होगा।

५—अभी तो अभ्यासी भाई में अर्थ समझने की भी शक्ति नहीं है, इसीसे वे वाक्यों का अनर्थ कर रहे हैं, मैंने अप्रमाणित निर्युक्त के लिए “निर्गतायुक्तिर्यस्याः” लिखा है पर हमारे अभ्यासी भाई इसे ही निर्युक्ति का अर्थ समझ रहे हैं, क्या इससे हमारे अभ्यासी बन्धु प्रथम कक्षा के अभ्यासक सिद्ध नहीं होते?

अन्त में मैं अभ्यासी महाशय को यह बतला देना चाहता हूँ कि—आपने घूँघट की ओट में रह कर सू० पू० प्रतिकार समिति से इसके खण्डन करने की जो प्रेरणा की है, इससे हमें किसी प्रकार का भय नहीं है। यदि कोई भी महाशय अनुचित रूप से कलम चलावेंगे तो उनका उचित सत्कार करने को हम भी तत्पर हैं।

मैं अपने प्रेमी पाठकों से भी निवेदन करता हूँ कि वे कथित अभ्यासी महाशय के भासे में नहीं आकर शुद्धांतःकरण से उसे अधलोकन कर सत्य के ग्राहक बनें। इति

रतनलाल डोशी, सैलाना—

प्रथम यह तो बताइए कि—यह पीतयवन गृहस्थों से पर
मन्वी मार यहम अमर्ष खडम दण्ड प्रयोग आदि किस
जैन साधुत्व संस्कृति का परिणाम है।

महाशय ! न तो मूर्तिपूजा ही जैन संस्कृति है, न तब
सम्बन्धी उपदेश देना जैन साधुत्व संस्कृति है। यह है केवल
अजैन एवं सांसारिक संस्कृति ही जिनके प्रभाव में आकर
यह द्वेष प्रवृत्ति जन समाज में इतनी बूझि पाई है।

३—अध्यासी महाशय भापा शैली के लिए देतराज करते
हैं किन्तु इसके पृथक् इन्हें अपने कहे जाने वाले न्यायोंमें
निधि युगावतार महात्मा रचित सम्यक्त्व शृङ्गोदार का
भाषा साधुत्व देख लेना चाहिए जिनमें उन मित्रवारी महा
नुभाष न साधुमार्गी समाज के परम माननीय पूजनीय श्री
भामव अष्टमहाजी महाराज के लिए निम्न शब्द काम में
लिये हैं—

‘जेठा मूढमति जेठा निहव लंडे के बाप के चौपड़े में
झिन्ना है आदि।

इसी प्रकार भोगी महासती पार्वतीजी को दुर्मतिजी
आदि दुर्गन्ध अमरयिज्ञयजी ने शिक्षा है और जैन समाज में
प्रसिद्ध प्राप्त बल्लभविजयजी का तो कहना ही क्या है !
उन्होंने तो पुत्रा रिकार ही लाइ आया।

इसके सिवाय सम्यक्ती महानुभाव को बालमुन्दरजी के
गुच्छ प्रकाशनों के शब्द तो मधुर ही मानित होते होंगे क्यों
कि वे तो इनके गुरु हैं और लिखा गया है इनके विरोधियों
(रूपानकवासियों) के विरुद्ध उनके शब्द तो आह्वीक होत
हुए भी इन्हें अमृत सम मिष्ट लगते हैं पर जरा धैर्य

सैम्पल भी तो चखिये, वे हमारे पूज्य लोंकाशाह को निहव हमारे पूज्य महात्माओं को कुलिंगी, नास्तिक, उत्सूत्र प्ररूपक, शासन भंजक, आदि नीच सम्बोधनों से याद किया है, जिसका कटु रुल तो अभी उन्हें भोगना बाकी ही है। इसके लिए आपको व उन्हें तैयार रहना चाहिए।

४—जिस ज्ञानसुन्दरजी के वर्तमान प्रकाशन की अभ्यासी भाई सराहना करते हैं, उसमें कितनी कल्पितता भरी है, यह तो उसके उत्तर के प्रकट होने पर ही आपको मालूम होगा।

५—अभी तो अभ्यासी भाई में अर्थ समझने की भी शक्ति नहीं है, इसीसे वे वाक्यों का अनर्थ कर रहे हैं, मैंने अप्रमाणित निर्युक्त के लिए “निर्गतायुक्तिर्यस्याः” लिखा है पर हमारे अभ्यासी भाई इसे ही निर्युक्त का अर्थ समझ रहे हैं, क्या इससे हमारे अभ्यासी वन्धु प्रथम कक्षा के अभ्यासक सिद्ध नहीं होते ?

अन्त में मैं अभ्यासी महाशय को यह बतला देना चाहता हूँ कि—आपने घूँघट की ओट में रह कर मू० पू० प्रतिकार समिति से इसके खण्डन करने की जो प्रेरणा की है, इससे हमें किसी प्रकार का भय नहीं है। यदि कोई भी महाशय अनुचित रूप से कलम चलावेंगे तो उनका उचित सत्कार करने को हम भी तत्पर हैं।

मैं अपने प्रेमी पाठकों से भी निवेदन करता हूँ कि वे कथित अभ्यासी महाशय के भासे में नहीं आकर शुद्धांतःकरण से उसे अवलोकन कर सत्य के ग्राहक बनें। इति

रतनलाल डोशी, सैलाना—

प्रथम यह तो बताइए कि—यह पीतबसन गृहस्थों से पा
थम्पी भार पहन अमर्ष बबल दण्ड प्रयोग आदि किस
जैन साधुत्व संस्कृति का परिणाम है।

महाशय ! न तो मूर्तिपूजा ही जैन संस्कृति है न तब
सम्बन्धी उपदेश देना जैन साधुत्व संस्कृति है। यह है केवल
अजैन एवं सांसारिक संस्कृति ही जिसके प्रभाव में आकर
यह देव प्रवृत्ति जन समाज में इतनी वृद्धि पाई है।

३—अध्यासी महाशय माया शैली के लिए ऐतराज करते
हैं किन्तु इसके पृथक् इन्हें अपने कहे जाने वाले न्यायानो
निधि युगाधनार महात्मा रचित सम्यक्त्व शस्योद्धार का
भाषा माधुर्य देख लेना चाहिए जिसमें हम मिष्टमायी महा
कुमार न साधुमार्गी समाज के परम माननीय पूजनीय श्री
भीमद्वयैष्टमङ्गली महागुरु के लिए बिक्रम शब्द काम में
लिये हैं—

जेठा मूढ़मति जेठा निहव जेठे क बाप के खोपड़े में
झिन्ना है आदि।

इसी प्रकार धामनी महासती पार्वतीजी को दुर्मतिजी
आदि पुरोष अमरविजयजी ने लिखा है और जैन एवम् में
प्रसिद्ध मात बल्लभविजयजी का तो कहना ही क्या है !
उन्होंने तो पुगना रिकार ही तोड़ डाला।

इसके सिवाय अध्यासी महानुभाव को ब्रह्मसुन्दरजी के
तुल्य प्रकाशनों के शब्द तो मधुर ही भासित होते होंगे, क्यों
कि वे ना इनके गुरु हैं और लिखा गया है इनके विरोधियों
(स्थानकवासियों) के विरुद्ध उनके शब्द तो अहसीस होते
हुए भी इन्हें अमृत सम सिद्ध लगते हैं पर जरा इनका

सेम्पल भी तो चखिये, वे हमारे पूज्य लोंकाशाह को निहव हमारे पूज्य महात्माओं को कुलिंगी, नास्तिक, उत्सूत्र प्ररूपक, शासन भंजक, आदि नीच सम्बोधनों से याद किया है, जिसका कटुफल तो अभी उन्हें भोगना बाकी ही है। इसके लिए आपको व उन्हें तैयार रहना चाहिए।

४—जिस ज्ञानसुन्दरजी के वर्तमान प्रकाशन की अभ्यासी भाई सराहना करते हैं, उसमें कितनी कल्पितता भरी है, यह तो उसके उत्तर के प्रकट होने पर ही आपको मालूम होगा।

५—अभी तो अभ्यासी भाई में अर्थ समझने की भी शक्ति नहीं है, इसीसे वे वाक्यों का अनर्थ कर रहे हैं, मैंने अप्रमाणित निर्युक्त के लिए “निर्गतायुक्तिर्यस्याः” लिखा है पर हमारे अभ्यासी भाई इसे ही निर्युक्त का अर्थ समझ रहे हैं, क्या इससे हमारे अभ्यासी बन्धु प्रथम कक्षा के अभ्यासक सिद्ध नहीं होते ?

अन्त में मैं अभ्यासी महाशय को यह बतला देना चाहता हूँ कि—आपने घूँघट की ओट में रह कर मू० पू० प्रतिकार समिति से इसके खण्डन करने की जो प्रेरणा की है, इससे हमें किसी प्रकार का भय नहीं है। यदि कोई भी महाशय अनुचित रूप से कलम चलावेंगे तो उनका उचित सत्कार करने को हम भी तत्पर हैं।

मैं अपने प्रेमी पाठकों से भी निवेदन करता हूँ कि वे कथित अभ्यासी महाशय के भासे में नहीं आकर शुद्धांतःकरण से उसे अवलोकन कर सत्य के ग्राहक बनें। इति

रतनलाल डोशी, सैलाना—

प्रथम यह तो बताइए कि—यह पीतवसन गृहस्थों से पप
अम्पी भार पहन अनर्थ बबल दण्ड प्रयोग आदि किस
जैम साधुत्व संस्कृति का परिणाम है ।

महाशय ! न तो मूर्तिपूजा ही जैम संस्कृति है न तब
मम्पी उपवेश देना जैम साधुत्व संस्कृति है । यह है केवल
अजैन एवं सांभारिक संस्कृति ही जिसके प्रभाव में आकर
यह देव प्रवृत्ति जैन समाज में इतनी वृद्धि पाई है ।

१—अम्पासी महाशय भाया शैली के लिए पेशराज करते
हैं किन्तु इसके पृथक् इन्हें अपने कहे जाने वाले म्यायांमो
निधि पुगाधनार महात्मा रखिल सम्मन्त्र शस्योदार का
भाया माधुर्य देका क्षमा आदिप जिनमें उन मिष्टभायी महा
नुमाय ने साधुमार्गी समाज के परम माननीय पूजनीय श्री
भीमवृन्देष्टमहर्षी महाशय के लिए निज राज्य काम में
लिये हैं—

‘जेठा मूकमति जेठा निहव जेठे के बाप के चौपदे में
लिखा है आदि ।

इसी प्रकार भीमनी महासती पार्वतीजी को पुर्मतिजी
आदि पुर्मन्त्र अमरविजयजी ने लिखे हैं और जैन रूप में
प्रशिक्ष प्राप्त वस्तुमविजयजी का तो कहना ही क्या है !
उन्होंने तो पुगामा रिकार ही तोड़ डाला ।

इसके सिवाय अम्पासी महानुमाय को धानसुन्दरी के
गुण्ड प्रशस्ती के शब्द तो मधुर ही भाषित होते होंगे क्यों
कि वे ना इसके गुण हैं और लिखा गया है इसके विरोधियों
(कपानकवासियों) के विरुद्ध उनके शब्द तो अश्लील होत
हुए भी इन्हें अमृत सम मिष्ट लगत हैं पर जरा उनका

इस अनुवाद में मैंने बहुत से स्थानों पर बहुत परिवर्तन कर दिया है, परिवर्तन प्रायः भावों को स्पष्ट करने या विस्तृत करने के विचार से ही हुआ है, इसलिये गुजराती संस्करण वाले भाइयों को भी इसे देखना आवश्यक हो जाता है ।

जो सज्जन विद्वान् और संकेत मात्र में समझने वाले हैं उनके लिए तो प्रस्तुत पुस्तक ही ज्ञानसुन्दरजी की पुस्तक के उत्तर में पर्याप्त है, किन्तु जो भाई उन्हीं की पुस्तक का उत्तर और उनकी उठाई हुई कुतर्कों का खण्डन स्पष्ट देखना चाहें उन्हें कुछ धैर्य धरना होगा, क्योंकि—यह ग्रन्थ मात्र एक ही विषय का होने पर भी बहुत बड़ा हो जाने वाला है, अतएव ऐसा कार्य विलम्ब और शांति पूर्वक होना ही अच्छा है, जब तक उसका प्रकाशन नहीं हो जाय पाठक इससे ही संतोष करें ।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में जिन जिन पूज्य मुनि महाराजाओं और श्राद्ध बन्धुओं ने अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान की है उन सबका मैं हृदय से आभारी हूँ । इसके सिवाय इस हिंदी संस्करण के प्रकाशन में आर्थिक सहायदाता अहमदनगर निवासी मान्यवर सेठ लालचन्दजी साहब का भी यहां पूर्ण आभार मानता हूँ कि—जिनकी उदारता से आज यह पुस्तिका प्रकाश में आई ।

बस इतने निवेदन मात्र को पर्याप्त समझ कर पूर्ण करता हूँ ।

धिनीत
लेखक—

हिंदी संस्करण के विषय में लेखक का किंचित् निवेदन



प्रस्तुत पुस्तक का गुजराती संस्करण प्रकाशित होने के दोढ़े दिन बाद ही कई मित्रों की ओर से हिंदी संस्करण प्रकाशित कर देने की सूचनाएँ मिलीं ।

यद्यपि मेरी इच्छा इस पुस्तक के हिंदी संस्करण प्रकाशित करने की नहीं थी क्योंकि मैं चाहता था कि—मू० पू० भी बानसुरजी के मूर्तिपूजा के प्राचीन इतिहास में मूर्तिपूजा को लेकर हम पर जो आक्रमण हुए हैं उसी के उत्तर में एक ग्रन्थ निर्माण किया जाय जिससे इस पुस्तक के हिंदी संस्करण की आवश्यकता ही नहीं रहे किन्तु मित्रों के आग्रह और उस ग्रन्थ के प्रकाशन में अनिश्चित बिलम्ब होने के कारण इस पुस्तक का हिंदी संस्करण प्रकाशित किया आ रहा है ।

सब प्रथम मैंने ओकाशाह मत-समर्थन हिंदी में ही लिखा था उसका गुजराती अनुबाद "स्थानकवासी जैन" के विद्वान् तन्त्री भीमान् जीय्यलाल भाई ने किया था किन्तु असल हिंदी काफी वापिस भगवाने पर कुछ पोष्ट से मेझने से मुक्त प्राप्त नहीं हो सकी इसलिए गुजराती संस्करण पर मैं ही पुनः हिंदी अनुबाद किया गया ।

भूमिका

जिस प्रकार सृष्टि सौन्दर्य में आर्यावर्त की शोभा अत्यधिक है, उसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी यह देव भूमि तुल्य माना गया है। ऐतिहासिक क्षेत्र में भारत मुख्य रहा है और दूसरे देशों के लिये अनुकरणीय दृष्टान्त रूप है। धार्मिक दृष्टि से तो भारतवर्ष कैलास के समान इस अवनी पर सुशोभित रहा है। इतना ही नहीं सर्व धर्म व्यापक सिद्धान्त "अहिंसा परमोधर्मः" का पालन भी आर्यावर्त में ही बहुत काल से प्रचलित है। सभी धर्म वालों ने अहिंसा को महत्व दिया है। जैन धर्म का तो सर्वस्व अहिंसा धर्म ही है, और इसके लिये जितना भी हो सका प्रचार किया है। जिससे भारत के पुण्य-शाली राजाओं ने अपने राज्य शासन में अहिंसा को जीवन मुक्ति का साधन मान कर प्रथम पद दिया है।

जब जब अहिंसा का महत्व घटकर हिंसा का प्राबल्य हुआ है तब तब किसी न किसी महान आत्मा का जन्म होता है, वे महात्मा विकार जन्य—हिंसा जनक—प्रवृत्तियों का विरोध कर नई रोशनी, नया उत्साह पैदा करते हैं। जिस समय वैदिक धर्मावलम्बियों ने हिंसा को अधिक महत्व दिया था, धर्म के नाम पर यज्ञ, याग द्वारा गौ, घोड़े तथा मनुष्य तक को भी अग्नि देव के स्वाधीन करने लगे थे, उस



समर्पण—

सीर्यकर प्रभु द्वारा स्थापित बहुविध संघ रूप तीर्थों के परम पवित्र सेवा में—

मूर्ति के मोह में पड़कर स्वार्थपरता शिबिङ्गना और भ्रष्टता के कारण कई लोग हमारी साधुमार्गी समाज पर अनुचित एवं असत्य आरोप करके सम्यक्त्व को वृथित करने की चेष्टा करते रहते हैं। उन आरोपकारों से हमारी समाज की रक्षा हो और शका जैसी सम्यक्त्व नाशिनी एकलौरी की परचार्य से भी वञ्चित रहें। इसी भावना से यह बहुपुस्तिका भक्ति पूर्णक समर्पित करता हूँ।

दिक्कर—

—रत्न

भक्तों ने जवा देता नहीं। गुरुओंना दाह स्थलो पर पीठो चणावे छे। शासतनी प्रभावना ने नामे लड़ा लड़ी करे छे। दोरा धागा करे छे। ' ' ' आदि”

इस प्रकार श्री हरिभद्राचार्य ने उस समय की श्रमण समाज का चित्र खींचा है। साथ ही इन बातों का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि “ये सब धिक्कार के पात्र हैं, इस वेदना की पुकार किसके पास करें।” इससे स्पष्ट मालूम होता है कि उस जमाने में शिथिलाचार प्रकट रूप से दिखाई देने लगा था। पूजा वगैरह के बहाने धन वगैरह भी लिया जाता था। यह हालत चैत्यवाद के नाम पर होने वाली शिथिलता का दिग्दर्शन करा रही है, किन्तु उन साधुओं की निजी चर्या कैसी थी, इसका पता भी श्रीमान् हरिभद्रसूरि जी के शब्दों में “संघोष प्रकरण” नामक ग्रन्थ से और जिन-चन्द्रसूरि के “संघपट्टक” में बहुत-सा उल्लेख मिलता है। उनमें से कुछ अंश यहां उद्धृत करते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि उस समय साधुओं की शिथिलता कितनी अधिक बढ़ गई थी।

‘ए साधुओं अचारे सूर्य उगतांज खाय छे। चारम्बार खाय छे। माल मलीदा अने मिष्टान्न उड़ावे छे। शय्या, जोड़ा, बाहन, शस्त्र अने तांवा वगैरेना पात्रो पण साथे राखे छे। अत्तर कुलेल लगावे छे। तेल चोलावे छे। स्त्रीओंनो अति प्रसंग राखे छे। शालामा के गृहस्थी ओना घरमां खाजा वगैरेनो पाक करावे छे। अमुक गाम मारुं, अमुक कुँल मारु, एम अखाड़ा जमावे छे। प्रवचन ने बहाने विकथा निन्दा करे छे। मित्रा ने माटे गृहस्थ ने घरे नहिंजतां उपाश्रय

समय मगधाम महावीर और महात्मा बुद्ध जैसी प्रसन्न प्र-
 क्षिप्तों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने यज्ञ यागादिक का जो
 गोर से विरोध किया। धर्म के नाम पर होने वाले जाल-
 बारी को नैस्तनाबूद कर दिया। धर्म तीर्थ व्यवस्था पूर्ण
 बलता रह इसके लिये साधु व्याप्य धामक आश्रित हो
 चतुर्विध धीमय की स्थापना की। दीर्घ काल तक इस सब
 का वैतन्त्र्य समर्थ मुनियों द्वारा होता रहा, और संघ का
 कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। किन्तु धीरे धीरे लघु-
 मत मिश्रता होने लगी और उस मत मिश्रता ने कयाप
 का रूप पकड़ कर एकता की धूलसा को तोड़ डाला। जो
 से अचमति का भी गणेश हुआ। अब साधुओं में आपस में
 मिश्रता हो गई तब स्वकल्पता के बाताबरत का उन पर
 भी असर हुए बिना नहीं रहा। आखिरकार किसी समय
 पुरुष का बलाब नहीं रहने से स्वकल्पता पुरुष शिबिताकार
 बढ़ने लगा। बढ़ते बढ़ते श्रीमान् हरिमद्रसुरि के समय
 तो प्रकट रूप से बाहर आगया। उस समय शिबिता का
 किनता दौर दौरा था इसका बबैन हम अपने शब्दों में बत-
 करते हुए श्रीमान् हरिमद्रसुरि के ही शब्दों में बताते हैं
 आचार्य हरिमद्रसुरिजी ने "संक्षोषप्रकरण" में बहुत कुछ
 लिखा है उनके शब्दों से वाक्य बड़ा व्युत्पन्न किये जाते हैं।

आ लोको वैश्य अये मठ मां रहे हैं। पूजा करवानो
 आरम्भ करे हैं। फल फूल अये अर्पित पाणी तो उपयोग
 कराये हैं। अन्न पशिर अये शाखा बसाये हैं। पीतानी जात
 माटे देव द्रव्यमो उपयोग करे हैं। तीर्थना पदपा ओकोभी
 माफक अयमे भी धनमो संभय करे हैं। पाताना मकतो
 पर भूमति पथ नाये हैं सुनिहित साधुओंनी पासे पीताना

य अर्पण कर दिया। क्रियोद्धार में मंलग्न होकर विकार
 काल फँका। उस समय विरोधी बलने भी तेजी से
 बढ़ किया, किन्तु अन्त में विजय तो सत्य ही की होती
 हुआ। विरोधियों के विरोध के कारण ये हैं—
 (१) वर्ण का शैथिल्य (२) चैत्यवाद का विकार (३) अहं-
 श्रृंखला। इन विरोधी बलों ने कई ज्योतिर्धरों को
 ही बना दिये थे। कह्यों को अपने फदे में फंसा
 गा। और कह्यों को पराजित कर दिया था। किन्तु
 लोंकाशाह इन सब विरोधी बलों को धकेलते हुए
 साफ करते गये। और जैन धर्म को फिर से देदीप्य-
 नाने गये। श्रमणवर्ग के शिथिलाचार का प्रबल वि-
 न्या, तथा सत्य सिद्धांतों का प्रचार किया। धन्य है
 प्राण लोंकाशाह को कि जिन ने धर्म के नाम पर
 मन, धन और स्वार्थ की बाजी लगा दी, और
 धर्म धारण कर फिर से जैन धर्म का सितारा चमका
 प्रमाण प्रकार शिथिलाचार को दूर फेंकने वाले श्रीमान्
 कितने वीर पुरुष थे, उनमें धीरता और गम्भीरता
 है, इस विषय में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखा-
 न है। ऐतिहासिक दृष्टि से एक अग्रेज लेखिका
 है के विषय में लिखती है कि—

out A 1) 1452× The Lonka Sect arose
 followed by the Sthanakwasi sect, dated
 coincide strikingly with the Lutheran and
 movements in Europe

[Heart of Jainism]

से स्पष्ट मालूम होता है कि श्रीमान् लोंका शाह
 हुत उपकार किया। हमें ढोंग और धर्तिंग से
 निवृत्ति में ही है, इस बात को बताकर बाह्य

मां मंगायी ले ले । कप-विक्रयना कार्यों मां भाग ले ले । अब
बासकों में बेछाी करवा माटे बेचता ले ले । बेतुं करे ले । रोप
पागा करे ले । शासनमी प्रभावना में बहाने जवाबदी ले
ले । प्रवचन संमन्नाहीमें गृहस्थो पासे भी पैसामी आकांक्ष
राखे ले । ते पधामां कोई मो समुदाय परस्पर महतो नही ।
बधा बहभिद्र ले । यथा कम्पे धते ले ।" आदि

इस प्रकार बतला कर अन्त में वे आचार्य ऐसा कहते हैं
कि 'आ साधुओ मधी पय पैठ भराआनुं ठोछुं ले ।' श्रीमान
हरिमद्रसुरि के समय में ही जब स्वच्छन्दता एवं शिथिल
इतनी इत तक अपनी जड़ जमा चुकी थी तब श्रीमान् लोका
शाह के समय तक यह किठनी बढ़ गई होगी इसका अनु-
मान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं । श्रीमान् लोकशाह को
भी इसी शिथिलीकार को हटाने के लिए शान्ति मन्त्राची पड़ी ।
उमसे ऐसी मयकर परिस्थिति नहीं देखी गई । उन्होंने देखा
धर्म के नाम पर पाकण्ड हो रहा है । अथर्वस्था कवियों
के ताण्डव सत्य स्वार्थ और निष्ठा का अमलों पर अत्य-
धिक अधिकार हो गया है । इसी के फल स्वरूप जैन धर्म
का महत्व एक क्षण उठर गया । धर्म के नाम पर घटीब और
निर्दोष प्रजा पर अत्याचार हो रहा है । कुच्छियें बहम अन्ध
भ्रष्टा और सत्ताग्राही आदि से जनता बास को प्राप्त हो चुकी ।
शांति के उपासक अमल प्रचण्ड बन गये । समाज सर्वे संध
के रक्षक होकर सध की शक्तियों का अक्षय करने लगे । ऐसी
हालत वह भी धर्म के नाम पर मला इसे एक सत्य धर्म का
उपासक कैसे सहन कर सके । श्रीमान् शाह भी स्वच्छन्दता
के ताण्डव को सहन नहीं कर सके । यही कारण है कि उन्होंने
न स्वच्छन्दता का दूर करने के लिये अपना तन मन, धन,

सर्वस्व अर्पण कर दिया। क्रियोद्धार में मंगलन होकर विकार को निकाल फेंका। उस समय विरोधी चलने भी तेजी से प्रतिवाद किया, किन्तु अन्त में विजय तो सत्य ही की होती है, यही हुआ। विरोधियों के विरोध के कारण ये हैं— (१) श्रमण वर्ग का शैथिल्य (२) चैत्यवाद का विकार (३) अहंभाव की शृंखला। इन विरोधी बलों ने कई ज्योतिर्धरों को निरुत्साही बना दिये थे। कह्यों को अपने फंदे में फंसा लिया था। और कह्यों को पराजित कर दिया था। किन्तु श्रीमान् लोकाशाह इन सब विरोधी बलों को धकेलते हुए रास्ता साफ करते गये। और जैन धर्म को फिर से देदीप्यमान बनाने गये। श्रमणवर्ग के शिथिलाचार का प्रबल विरोध किया, तथा सत्य सिद्धांतों का प्रचार किया। धन्य है उन धर्म प्राण लोकाशाह को कि जिन ने धर्म के नाम पर अपने तन, मन, धन और स्वार्थ की बाजी लगा दी, और परार्थवृत्ति धारण कर फिर से जैन धर्म का सितारा चमका दिया। इस प्रकार शिथिलाचार को दूर फेंकने वाले श्रीमान् लोकाशाह कितने वीर पुरुष थे, उनमें धीरता और गम्भीरता कितनी थी, इस विषय में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। ऐतिहासिक दृष्टि से एक अंग्रेज लेखिका श्रीमान् शाह के विषय में लिखती है कि—

“About A D 1452× The Lonka Sect arose and was followed by the Sthanakwasī sect, dated which coincide strikingly with the Lutheran and Paritan movements in Europe

[Heart of Jainism]

इस पर से स्पष्ट मालूम होता है कि श्रीमान् लोका शाह ने हम पर बहुत उपकार किया। हमें ढोंग और धर्तिग से बचाया। धर्म निवृत्ति में ही है, इस बात को बताकर बाह्य

आहम्यरी से पिण्ड मुकुटाया। इतनी क्रांति मचा कर
 सोकाशाह ने अपना मत या सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया।
 किन्तु सत्य समाज के धर्म के सिद्धान्तों का ही प्रचार
 किया। इन महानुभाव ने धर्म क्रांति में मूर्ति-पूजा का प्रचार
 विरोध किया। साधु सत्या का शिष्य बुर किया गया। अवि
 कारवाद की शुद्धता को तोड़ फेंकी। इतना करने पर भी
 एक सङ्कुचित समुदाय में ही रूके हुए नहीं रहे। किन्तु विराट्
 क्षेत्र में पदार्पण किया, और निर्मल डोकर धर्म सुधार किया।
 जिससे धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा रुकी, और
 अहिंसा धर्म का फिर से उद्घाटन हुआ। उस अहिंस
 धर्म को वृद्धिगत करने वाले वीर पुरुष का नाम लेकर ही
 सत्य का पुत्रादि इवित नहीं होगा। बाहिर सत्य तो सत्य
 ही रहता है। फलस्वरूप सभी सिद्धान्तों को मानने वाले
 मानों की सत्ता में हुए। धर्म को बाध रूप नहीं लेकर अ
 स्तरिक रूप दिया गया। आहम्यर में धर्म नहीं रह सकता
 वहाँ स्वार्थ की छाया मल्लकती है। जहाँ स्वार्थ भुला नहीं
 कि परोपकारी धर्मियों के घर डलक। धर्म प्रायः सोकाशाह ने
 इन स्वार्थ पोषक सिद्धान्तों का प्रचार विरोध किया, और
 साधु का सबसे सामने रखा। उस सत्य को स्वीकार न करके
 हुए मिथ्यापात्रियों ने अपना प्रताप तो बाध ही रक्खा और
 मोक्ष मार्ग जीवों को लगे भरमाने, अरे भाई! मूर्ति-पूजा
 शाश्वति है। सुखों में स्थान स्थान पर मूर्ति पूजा का वर्णन
 आता है। मूर्ति पूजा से ही धर्म रह सकता है। हजारों वर्ष
 पहल की मूर्तियाँ हैं। आदि आदि कथोक कथित बातें कर
 कर भोली जनता को धर्म में डालने लगे। अहा! कितना
 अंधार! कहा महावीर के जमाने में ही मूर्ति-पूजा का अभाव,
 और कहा हजारों वर्ष! हाँ पण्डितों की मूर्तियाँ पर्यं यका

यतन शास्त्रों में वर्णित पाये जाते हैं, और प्राचीन मूर्तियां भी मिलती हैं। परन्तु कोई यह कहने का साहस करे कि नहीं, जिन मन्दिर—तीर्थकर मन्दिर—और मूर्तियां भी थीं, तो यह उसकी केवल अनभिज्ञता है। वास्तव में मूर्ति-पूजा का श्री गणेश पहले पहल बौद्ध मतानुयायियों ने ही किया, वह भी बुद्ध निर्वाण के बाद ही, उसमें भी प्रारम्भ में तो बुद्ध के स्तूप, पात्र, धर्मचक्र आदि की पूजा की जाने लगी, तदन्तर बुद्ध की मूर्तियां स्थापित होने लगी। और इन्हीं बौद्धों की देखा देखी जैन धर्मानुयायियों ने भी कुशाण काल में जिन मंदिरों को बनाया, और पूजा प्रतिष्ठा करने लगे।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान एवं आध्यात्मिक भावों का ही द्योतक है, इस बात को भूलकर ऊपरी आडम्बर में ही धर्म र चिह्निलाने वाले कितने शिथिल होगये थे, धर्म के नाम पर क्या र पाखंड रचे जाने लगे, इसका वर्णन हम श्री हरिभद्र सुरिजी के शब्दों में ही व्यक्त कर आये हैं। यही कारण है कि जैन धर्म के असली प्राण भाव को उसी समय से तिलांजली दे दी गई, और पतन का सर्वनो व्यापी बना दिया गया, हमारे कहने का आशय यह है कि जैनियों ने आडम्बर को महत्व देकर लाभ नहीं उठाया, वरन् उल्टा अपना गंवा बैठे। श्रीमान् लोकाशाह ने इन्हीं शिथिलताओं को दूर कर फिर से आडम्बर रहित अहिंसा धर्म को बतलाया, और शास्त्रानुकूल जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। परन्तु खेद है कि फिर भी वही पुराना ढर्रा (अपनी ही ढपली बजाना) चल रहा है कितने ही व्यक्ति अपना अधिकार न समझकर उल्टी बातों का फैलाव करते ही रहे, और वर्तमान में कर भी रहे हैं। इतना ही नहीं सत्य जैन समाज पर अघटित आक्षेप करने से बाज नहीं आते, और अपनी तू तू मैं मैं की

आइसरो से पिण्ड लुप्तपाया । इतनी कांति मचा कर मैं
 लोकाशाह मैं अपना मत या सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया ।
 किन्तु सत्य सनातन धर्म धर्म के सिद्धान्तों का ही प्रचार
 किया । उन महानुभाव मैं धर्म कांति में मूर्ति-पूजा का प्रवृत्ति
 विरोध किया साधु संस्था का शिथिल्य दूर किया तथा धर्म
 कारणाद की शूकसा को लोभ फैली । इतना करने पर भी
 एक संकुचित मनुष्य मैं ही रहे हुए नहीं रहे किन्तु विराट
 क्षेत्र में प्रकाश किया और निर्मल होकर धर्म सुधार किया ।
 जिससे धर्म के माय पर होने वाली हिंसा रुकी, और
 अहिंसा धर्म का फिर से उद्योत हुआ । ऐसे अहिंस
 धर्म को बुद्धिगत करने वाले और पुण्य का नाम लेकर ही
 सत्य का पुजारी वर्तित नहीं होगा । आखिर सत्य तो स
 ही रहता है । फलस्वरूप सभी सिद्धान्तों को मानने का
 सबों की संस्था में हुए । धर्म को बाध रूप नहीं देकर अ
 स्तरिक रूप दिया गया । आइसरो में धर्म नहीं रह सकता
 वहां स्वार्थ का ज्ञान मूलक होती है । जहां स्वार्थ घुसा नहीं
 कि परोपकारी वृत्तियों के पर उल्लेख । धर्म प्राय लोकाशाह मैं
 इन स्वार्थ पोषक सिद्धान्तों का प्रवृत्ति विरोध किया, और
 सत्य को सबके सामने रखा । उस सत्य को स्वीकार न करते
 हुए मिथ्यावादिओं मैं अपना प्रकाश तो बालू ही रक्खा और
 मोक्ष मोक्ष जीवों को लगे अग्रगण्य अरे माई ! मूर्ति-पूजा
 शरबति है । सूर्य में स्थान स्थान पर मूर्ति पूजा का वर्तन
 आता है । मूर्ति पूजा से ही धर्म रह सकता है । हजारों वर्ष
 पहले की मूर्तिर्था है । यदि यदि कपोल कल्पित बातें कर
 कर मोक्षी जनता को भ्रम में डालने लगे । अहा ! कितना
 अन्धे ! कहाँ महावीर के अमान में ही मूर्ति-पूजा का अभाव,
 और कहाँ हजारों वर्ष ? हाँ यज्ञादिकों की मूर्तिर्था एवं यज्ञा-

विषय-सूचि

क्र०	विषय	पृष्ठ
	प्रवेश चारित्र्य धर्म का स्वरूप	.
१	द्रौपदी	८
२	सूर्याभ देव	१६
३	आनन्द श्रावक	२२
४	अंबु संन्यासी	३४
५	चारण मुनि	३७
६	चमरेन्द्र	३८
७	तुंगिया के श्रावक	४०
८	चैत्य शब्दार्थ	४५
९	आवश्यक नियुक्ति और भरतेश्वर	५२
१०	महाकल्प का प्रायश्चित्त विधान	५८
११	क्या शास्त्रों का उपयोग करना भी मू० पू० है ?	६६
१२	अवलम्बन	६६
१३	नामस्मरण और मूर्ति पूजा	७४
१४	भौगोलिक नक्शे	७७
१५	स्थापना-सत्य	७६
१६	नामनिक्षेप वन्दनीय क्यों ?	८०
	शक्कर के मिर्चिने	८२
	का	८५
	चित्र	८७
	साध्यता	८४
		८६

हा हू मघाते ही रहते हैं तथा जनता को धोरे में डालकर अपना स्वार्थ साधते हैं ।

प्यारे म्यापप्रिय महाशयों हम प्रेमियों का तायद्वय बढ़ने न पावे और वास्तविक सत्य क्या है इसका जनता मझ प्रकार से जानले इसी उद्देश्य का सामने रखते हुए भीमान् रत्नमन्नासजी डोशी नेमाना निघासी ने यह पुस्तक लोकाशाह मत समर्थन नामक आपके सामने रक्खी है । इसमें उन कुयुक्तियों का ही वास्तविक चित्पा जबाब दिया गया है जो कि समाज में अम फैलाने वाली एव बाह्याङ्गमर को महसुस देने वाली हैं । अन्त में शिक्षाकार पोरकों ने कैसी २ व पोख कदियत बातें लिखी हैं इसका दिग्दर्शन भी लेखक ने कराया है । इस पुस्तक को लिखकर भीमान् डोशीजी ने स्वधर्म रक्षा की है और सत्याम्बेपी मुमुक्षुओं को सत्य प्रदना बताकर धर्म प्राण लोकाशाह और समस्त स्थानक घासी समाज की सेवा की है । तथा सत्य सिद्धान्तों के प्रति अपनी अदृष्ट धृष्टा व्यक्त कर मिथ्या प्रताप को जड़ से हटा देने की कोशिश की है । एतदर्थ आपको धन्यवाद ।

इस पुस्तक के लक्षण का समिप्राय किसी के सिद्धान्तों पर आक्रमण करना नहीं है किन्तु मानव जीवन सत्यमय बने और सत्यमार्ग की पबेपणा कर चाराधना करे पड़ी है ।

अतः पाठकों से निवेदन है कि वे इस पुस्तक को शांत भाव से निप्यछ बनकर आधोपान्त पढ़कर सत्य मार्ग का अवलम्बन करें तथा मिथ्या कुयुक्तियों से अपने को बचाते रहें । इत्यन्तम् सुबेपु कि बहुना ?

अजमेर

शताब्धानी पं० मुनि भीरानन्दजी
महाराज का चरख किंकर
मुनि पूनमचन्द्र ।

विषय-सूचि

न०	विषय	पृष्ठ
	प्रवेश चारित्र्य धर्म का स्वरूप	
१	द्रौपदी	८
२	सूर्याभ देव	१६
३	आनन्द श्रावक	२२
४	श्रवण संन्यासी	३४
५	चारण मुनि	३७
६	चमरेन्द्र	३८
७	तुंगिया के श्रावक	४०
८	चैत्य शब्दार्थ	४५
९	आवश्यक नियुक्ति और भरतेश्वर	५२
१०	महाकल्प का प्रायश्चित्त विधान	५८
११	क्या शास्त्रों का उपयोग करना भी मू० पू० है ?	६६
१२	अवलम्बन	६६
१३	नामस्मरण और मूर्ति पूजा	७४
१४	भौगोलिक नक्शे	७७
१५	स्थापना-सत्य	७६
१६	नामनिक्षेप वन्दनीय क्यों ?	८०
१७	शङ्कर के खिलौने	८२
१८	पति का चित्र	८५
१९	स्त्री चित्र और साधु	८७
२०	हुण्डी से मूर्ति की साम्यता	९४
२१	नोट मूर्ति नहीं है ।	९६

न०	विषय	पृष्ठ
२२	परोक्ष बन्धन	१८
२३	बन्धन आवश्यक और स्थापना	६६
२४	द्रव्य निक्षेप	१०१
२४	सत्त्वियोगति स्नान और द्रव्य निक्षेप	१०४
२५	मरीचि बन्धन	१०७
२७	सिद्ध हुए तीर्थकर और द्रव्य निक्षेप	१११
२८	साधु के शेष का बहुमान	११३
२९	क्या जिनमूर्ति जिन समान है ?	११४
३०	समबसररु और मूर्ति	१२१
३१	क्या पुण्यों से पूजा-पुण्यों की क्या है ?	१२३
३२	आवश्यक कृत्य और मूर्ति पूजा	१३३
३३	गृहस्थ सङ्गन्धी आरम्भ और मूर्ति पूजा	१३६
३४	डॉक्टर या खूनी	१३८
३५	व्यापारीय या अन्ध्याय प्रवर्तक	१४२
३६	क्या ३२ मूल सूत्र के बाहर का साहित्य मान्य है ?	१४६
	(अ) धर्मसिद्धि विधान (आ) क्या ग्रंथों के गण्यौह	
	(इ) माहात्म्य ग्रन्थ (ई) मूल में सिद्धावत	
	(उ) मूल के नाम से ग्रंथ (ऊ) धर्म का अनर्थ	
	(ऋ) टीका आदि में विपरीतता (अ) एक सिद्धा प्रयास	
३७	मू० पू० प्रमाणों से मू० पू० की अनुपादयता	१७३
३८	मू० पू० से सामायिक करना श्रेष्ठ है।	१८८
३९	धर्म क्या में है हिंसा में नहीं	१९१
४	अन्तिम निवेदन	१९८

श्री मोतीलालजी शांतीलालजी गांधी
दीपाङ्ग बालो की ओर से सादर भेंट

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्री लोकाशाह मत-समर्थन



चरितधर्मे दुविहे पणत्ते तंजहा-अगार-
चरितधर्मे चेव, अणगारचरितधर्मे चेव ॥

[स्थानांग सूत्र]

अनन्त, अक्षय, केवलज्ञान, केवल दर्शन के धारक,
विश्वोपकारी, त्रिलोकपूज्य, श्रमण भगवान श्री महावीर प्रभु
ने भव्य जीवों के उद्धार के लिए एकान्त हितकारी मोक्ष जैसे
शाश्वत सुख को देने वाले ऐसे दो प्रकार के धर्म प्रति-
पादन किये हैं। जिसमें प्रथम गृहस्थ [आवक] धर्म और
दूसरा मुनि (अणगार) धर्म है।

गृहस्थ धर्म की व्याख्या में सम्यक्त्व, द्वादशव्रत, ग्यारह
प्रतिमा, आदि का विस्तृत विचार आगमों में कई जगह
मिलता है। प्रमाण के लिए देखिए—

(१) गृहस्थ धर्म की संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक सूत्र में
इस प्रकार बताई है।

पश्यद्दमणुर्वधाय, नित्यह गुणवधाय ।

अउरहं मित्रस्त्राययाण, पारसविहस्त ॥

(२) भायक जीयम जीर उसमे दैनिक-मासिक कर्तव्यों का वर्णन—

सूत्रचर्तांग श्रु० २ अ० २ सूत्र ७९—

स जहाय्याय समथोवासना मवन्ति अमिमयमीवामीन,
उवत्तदुपययपाणा, आसवसवरवेय्या, शिउमरा, किरिवाहि
गरव्वन्वमोदसकुसला, असहेज्जवेवासुरनागसुवन्नवन्नर
वत्तसकिन्नरकिपुरिसगळसगंणज्जमहोरगाएहि देवमज्जेहि
निगवाओ पावयखाओ, अगाएकमखिज्जा, इयमेव निगमि
पावयजे खिस्सकिमा निकंखिया, निठिठिमिच्छा, अद्धा
गहियद्धा, पुच्छियद्धा, विखिच्छियद्धा, अमिगपद्धा, अद्धि
मिन्नपेमासुरागत्ता । अबमाउसो ! निग्गये पावयजे अयं
परमह सेसे अमह ऊसियकल्लिहा अबशुयदुवारा, अविक्क
त्तउरपरपरपेसा, वाउदसहमुदिहपुणियामासिणीसु वडि
पुअ पोसह सम्म अणुपालेमाया समये पिग्गये फासु-एस-
खिज्जेथ असणपायसाहमसाहमण, वत्थपटिग्गाहकंमलपाय
पुच्छणुण, ओसहमेसज्जेथ, पीठफल्लगसेज्जसंवारयस,
पटिलामेमाणा वडिहि सीलवयगुणपेरक्खण्णकण्णपोस-
टावपासेथ अहापरिग्गहिएहि तवोक्कमेहि, अप्पायं भावे-
माया विहरंति ॥७६॥

तेषां एयारुत्रेण विहारेण विहरमाणा बहूहि वासाहि
ममणोवासगपरियागं पाउण्ति, पाउणित्ता आवाहंसि उणन्नं-
सि वा अणुप्पन्नसि वा बहूहं भत्ताहं अणसणाहं छेदेइ बहूहं
भत्ताहं अणसणाहं छेदेइत्ता आलोहयपडिक्कंता समाहिपत्ता
कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवताए उवत्ता-
रो भवंति तंजहा महद्दिट्ठएसु महज्जुइएसु जाव महासुखेसु सेसं
तं चेव जाव एस ठाणे आयरिए जाव एगंतसम्मे साहू ।

(३) योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने सम्यक्त्व पूर्वक
वारह व्रत का विवेचन किया है, देखो प्रकाश १ अंतिम दश
श्लोक से दूसरे प्रकाश तक ।

(४) त्रिप्रष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भी श्री हेमचन्द्राचार्य
ने प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ स्वामी की देशना का वर्णन
करते हुए गृहस्थ धर्म के सम्यक्त्व सहित वारह व्रत की
विस्तृत व्याख्या की है ।

(५) ऐसे ही उपासकदशांग सूत्र में आदर्श रूप दश
श्रावकों के जीवन में उपादेय नैतिक, धार्मिक क्रिया का शिक्षा
लेने योग्य विस्तृत इतिहास बताया गया है, भगवती, ज्ञाता-
धर्मकथा आदि सूत्रों में भी श्रावक धर्म के पालकों का इति-
हास उपलब्ध होता है ।

इस प्रकार जहाँ कहीं भी श्रावक धर्म का निरूपण और
इतिहास मिलता है उसका मतलब सूत्र कृतांग के सदृश ही
है । सिवाय इसके गृहस्थ धर्म के विधि नियमादि का उपदेश

कर भ्रमण धर्म के लिये विधि विधान बतलाने वाले अनेक शास्त्र हैं, जैसे आधाराङ्ग सूक्तताङ्ग डाण्डाङ्ग समवायाङ्ग विवाहप्रवृत्ति वंशवैकालिक उत्तराध्ययन आदि; इन सूत्रों में त्यागी धर्म के लिये हसन बलन गममागमन शयन, मिष्टा गमन प्रसिद्धेक्षण प्रमाजन आलाप-सीलाप व्रत दर्शन वारिज नप आराधन स्वाध्याय त्याग कायोटसग प्रति क्रमव प्रायश्चित्त विनय वैपायुष्य आदि अनेक आश्चर्यक अत्यावश्यक अष्टपावश्यक कार्यों की विधि का विधान करने में आया है यहाँ तक कि रात्रि को निद्रा लेते यदि करबट फिराना हो तो किस प्रकार फिराना मल मूत्रादि किस प्रकार परिष्ठापन करना कभी सूई कैंची चाकू या चमचे की आवश्यकता हो तो कैसे याचना फिर लौटाते समय किस प्रकार सौन्दास्या अभ्यसार्थ न होम पर कभी एकाध बार नही पार करने का काम पड़ तो किस प्रकार करना, आदि विधियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। ईद सूत्रों में दण्ड विधान किया गया है कि उसमें कितने ही ऐसे कार्यों का भी दण्ड बताया गया है कि जिनका मुनि जीवन में प्रायः प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता।

इतने कथम से हमारे कहने का यह आशय है कि परमोपकारी तीर्थंकर महाराज ने जो आचार और प्रणय धर्म बताया है उसमें 'मूर्ति-पूजा' के लिए कहीं भी स्थान नहीं है न मूर्ति पूजा धर्म का भग ही है।

हमारे कितने ही मूर्ति-पूजक बन्धु यों कहा करते हैं कि 'मूर्ति पूजा सूत्रों में सैकड़ों जगह प्रतिपादित की गई है' किन्तु उनका यह कथन एकाण्ठ मिथ्या है।

प्रथम तो मूर्ति-पूजक गृहस्थ लोगों का यह कथन इनके माननीय धर्म गुरुओं के बहकाने का ही परिणाम है, क्योंकि इनके गुरुवर्यो ने सूत्र स्वाध्याय के विषय में श्रावकों को अयोग्य ठहरा कर इनका अधिकार ही छीन लिया है। जिस से कि ये लोग खुद आगम से अनभिज्ञ ही रहते हैं, और गुरुओं से सुनी हुई अपनी अयोग्यता के कारण सूत्र पठन की ओर इनकी रुचि भी नहीं बढ़ती, यदि किसी जिज्ञासु के मन में आगम वांचन की भावना जागृत हो तो भी गुरुओं की बताई हुई अयोग्यता और महापाप के भयसे वे आगम वांचन से वंचित ही रहते हैं, उन्हें यह भय रहता है कि कहीं थोड़ा सा भी आगम पठन कर लिया तो व्यर्थ में महापाप का बोझा उठाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वे लोग 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' पर ही विश्वास नहीं करें तो करें भी क्या ?

इस प्रकार गृहस्थ वर्ग को अन्धकार में रखकर पूज्य वर्ग स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करे इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि यदि श्रावक वर्ग को सूत्र पठन का अधिकार दिया गया, तो फिर सत्यार्थी, तत्त्व गवेषी अभिनिवेश-मिथ्या त्व-रहित हृदय वाले, मुमुक्षुओं की श्रद्धा हमारी प्रचलित मूर्ति पूजा पद्धति को छोड़कर शुद्ध मार्ग में लगजायगी, जिससे हमारी मान्यता, पूजा, स्वार्थ, एवं इन्द्रिय पोषण में भारी धक्का लगेगा। देखिये इन्हीं के विजयानन्द सूरि स्वकृत "अज्ञान-तिमिर-भास्कर" की प्रस्तावना पृ० २७ पं० ३ में लिखते हैं कि—

‘जब धर्माभ्यस्तों का अधिक बल होजाता है तब वे ऐसा घन्दोबस्त करते हैं कि—कोई अन्य जन विद्या पढ़े नहीं

लेकर पढ़े तो उसकी रहस्य बताते नहीं, मनमें यह समझते हैं कि अपढ़ रहेंगे तो हमको फायदा है नहीं तो हमारे विद्व काहेग, ऐसे ज्ञानके सर्व विद्या गुप्त रखने की तजवीज करते हैं इसी तजवीज में हिंदुस्तानियों का स्वतंत्र पड़ा नष्ट करा और सब्बे धर्म की वासना नहीं लगने दी और नये मतों के ज़म ज़ाल में गेरा और अकड़े धर्म वालों को मास्तिक कहवाया ।

यद्यपि आत्मारामजी का यह आशेष वेदानुयायियों पर है किन्तु वे स्वयं अपने शब्दों का कितने अर्थों में पालन करते थे इसका निर्णय इन्हीं के एनाथे हिंदी सम्बन्ध शब्दोद्धार' चतुर्थ वृत्ति के भाषक सूत्र न पढ़ें' शीर्षक प्रकरण से हो सकता है इस प्रकरण में आप एकान्त निवेद्य करते हैं । कुछ मी हो पर स्वामीजी का कारण तो सत्य था सो अज्ञान तिमिर आन्धर में बता दी दिया इन्हीं के शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने स्वार्थ पर कुठाराघात होम के कारण ही भावकों को सूत्र पठन में अनधिकारी घोषित किया गया है ।

१-भाषक सूत्र पढ़ सकता है या नहीं ? यह विषय एक स्वतंत्र निरन्ध की आवश्यकता रखता है । यहाँ विषयान्तर ठ मय से उल्ला की जाती है ।

जसा होते हुए मी जो हमे गिन पढ़ लिख आगम बाबक व्यक्ति है वे अपने गुरुओं के कथन को असत्य मानते हुए मी उनके प्रभाव में आकर तथा गुराग्रह के कारण पक्षी हुई

हठ को छोड़ते नहीं हैं। पंडित बेचरदासजी जैसे तो विरले ही होंगे जो इस विषय में गुरुओं की परवाह नहीं करते हुए सूत्रों का अध्ययन मनन करके मू० पू० विषयक सत्यहकीकत प्रकट कर अज्ञान निद्रा में सोई हुई जनता के समक्ष सिद्ध कर दिखाई उसका भाव यह है कि—

“मूर्ति-पुजा आगम विरुद्ध है। इसके लिये तीर्थंकरों ने सूत्रों में कोई विधान नहीं किया। यह कल्पित पद्धति है”।

देखो—‘जैन साहित्यमां विकार थवा थी थयेली हानि’ या हिंदी में ‘जैन साहित्य में विकार’।

इस सत्य कथन का दण्ड भी पंडितजी को भोगना पड़ा मूर्ति-पूजक समाज ने आपका वहिष्कार कर दिया, शाब्दिक बाण वर्षा की झड़ी लग गई, सद्भाग्य से पंडितजी के मूल्यवान शरीर पर आक्रमण नहीं हुआ, इसलिए यदि कोई सत्य विचार रखते भी हैं तो सामाजिक भय से सत्य समझते हुए भी प्रकट करते डरते हैं।

इत्यादि पर से यह स्पष्ट होगया कि—हमारे ये भोले भाई गुरुओं के पढ़ाये हुए नोते हैं, इसलिए शास्त्रज्ञान से प्रायः अनभिज्ञ इन बन्धुओं को कुछ भी नहीं कहकर इनके गुरुओं की दलीलों को ही कसौटी पर कसकर विचार करेंगे जिससे पाठकों को यह मालूम हो जाय कि—इनकी युक्ति और प्रमाणों में कितना सत्य रहा हुआ है। पाठकों की सरलता के लिए हम इनकी दलीलों का प्रश्नोत्तर रूप में समाधान करते हैं।

१-द्रौपदी

प्रश्न-द्रौपदी ने जिन प्रतिमा की पूजा की है जिसका कथन 'दाता धर्म कथोग' में है और वह धायिका भी यह उसके 'समोन्मुख' पाठ से मासूम होता है इससे मूर्ति पूजा करना सिद्ध होता है फिर आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर-द्रौपदी के चरित्र का शरणा लेकर मूर्ति-पूजा सिद्ध करना वस्तु स्थिति की अनमिष्टता और आगम प्रमास की निवृत्तता जाहिर करता है । यहां असंलिप्त को स्पष्ट करने के पूर्व पात्रों की सरलता के लिए 'सिम' शब्द का अर्थ और उसकी व्याख्या करनेमा उचित समझता हूँ ।

जिन शब्द के मूर्ति पूजक आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने निम्न चार अर्थ किये हैं ।—

१ तीर्थंकर २ सामान्य केबली ३ कर्ष कामदेव
४ नारायण हरि । (बेमीनाम मन्त्र)

(१) तीर्थेश्वर बाह्य और अभ्यन्तर शक्तियों को जीतने वाले अनन्त ज्ञान अनन्त बर्णन अनन्त चरित्र अनन्त धर्म के धारक देवेन्द्र नरेन्द्रादि के पूजनीय ३४ अतिशय ३२ बाणी अतिशय के धारक विष्णु वंश साधु आदि चार तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थेश्वर प्रथम जिन हैं ।

(२) सामान्य केवली-वाह्याभ्यन्तर शत्रुओं से रहित, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय के धारक, कृतकृत्य केवली महाराज द्वितीय 'जिन' हैं ।

ये दोनों प्रकार के 'जिन' भाव 'जिन' हैं । इनके शरण में गया हुआ प्राणी संसार सागर को पार कर मोक्ष के पूर्ण सुख का भोक्ता बन कर जन्म मरण से मुक्त होता है ।

कंदर्प (कामदेव)-यह तीसरा दिग्विजयी 'जिन' है, जिसमें देव, दानव, इन्द्र, नरेन्द्र, व मनुष्य, पशु, पक्षी, सभी को अपने आधीन में रखने की शक्ति है ।

इस देव के प्रभाव से बड़े २ राजा महाराजाओं के आपस में युद्ध हुए हैं । रावण, पद्मोत्तर, कीचक, मदन रथ, आदि महान नृपतिओं के राज्यों का नाश कर उन्हें नर्क गामी बनाया है । बड़े २ ऋषि मुनियों के वरों के तप संयम को इस कामदेव ने इशारे मात्र से नष्ट कर उन्मार्ग गामी बना डाला है । नन्दीसेण जैसे महात्मा को इस जिन देव ने अपने एक ही झपाटे में धराशायी कर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा दिया, इसी विश्वदेव की प्रेरणा से ही तो एक तपस्वी साधु विशाल नगरी के नाश का कारण बना । इस देव की लीला ही अवर्णनीय है । यह बड़े २ उच्च कुल की कोमलांगियों के कुल गौरव का नाश करते शरमाता नहीं, अनेक महा सतियों को इस जिन देव की कृपा से प्रेरित हुए नरपिशाचों द्वारा भयङ्कर कष्ट सहन कर दर दर मारी मारी फिरना पड़ा । समाज का अपमान सहन कर अनेक प्रकार की यातनाएँ

सहम करना पड़ी। वहे २ उच्छ खागदानी युवकों को बेरपा गामी, परदार-व्यसमी बना कर घर २ भीख मांगत इसी ने तो बनाये हैं। आज भारत की अधो-पति धल, वैभल, उच्छ संस्कृति का नाश यह सभी इसी जिन-देव के कृपा कटाव का फल है।

पुराणों की इन्द्र अम्ब नरेन्द्र महेश गौतमभुवि आदि की कलक कथाएँ भी इसी देव की कृपा का परिक्रम है।

वर्तमान समय में भी पुनर्विवाह की प्रथा अनेक हिन्दुओं का मुमलमान ईसाई आदि बन आमा कम्पा-धिकप, बुद्ध-विवाह भूख-हत्या आदि का होना इत्यादि जितनी भी गुण गाथाएँ इस पिअदेव की गाई आय बतमी थोड़ी है। इस तरह यह कामदेव भी तृतीय बेथी का जिन है।

(४) नारायण (वासुदेव)—तीन खण्ड के विजेता अपने वाहुबल से अनेक युद्धों में अनेक महारथियों को पराजित कर सम्पूर्ण तीन खण्ड में निरंकुश राज्य करने वाले एम वासुदेव भी चौथी भेथि के जिन है।

यह तीसरी और चौथी भेथि के जिन वृष्य जिन है। इनसे सत्कार के प्राणियों का उच्चार नहीं हो सकता। तृतीय भेथि का जिन तो तीनों लुक बिगाड़ता है और जितना प्रभाव अस्य तीम जिन देवों का नहीं उतना इस कामदेव जिन का है। इसके आश्रय में जितने प्राणी हैं उतने अस्य तीनों जिन के नहीं।

नाट - बुद्ध को भी जिन कहा गया है। सुर्षों में अश्व चिशानी भमपथ्यदानी को भी जिन कहे हैं।

जिन शब्द की इतनी व्याख्या कर देने के बाद द्रौपदी के कथन में वास्तविकता क्या है, यह बताया जाता है ।

द्रौपदी का वर्णन क्षात्रा धर्मकथाङ्ग सूत्र के १६वें अध्ययन में विस्तार पूर्वक आता है, जिसका संक्षिप्त सार यह है कि द्रौपदी ने सर्व प्रथम नागश्री के भव में धर्म-रुचि नामक महान् तपस्वी को मास खमण के पारणे में भिक्षा के समय कड़वी तुम्बी का हलाहल विष समान शाक जान बूझकर बहिराया । और इस तरह उन महान् तपस्वीराजके जीवनान्तमें कारण बनी, फल-स्वरूप जन्मजन्मान्तर में अपरिमित दुख सहती हुई मनुष्य भव में आई, शास्त्र में स्पष्ट बताया है कि—सुकुमालिका (द्रौपदी का जीव) चारित्र की विराधक हो गई और एक वेश्या को पांच पुरुषों के साथ क्रीड़ा करती देखकर उसने ऐसा निदान कर लिया कि—'यदि मेरी तपश्चर्या का फल हो तो भविष्य में मुझे भी पांच पति मिले, और मैं उनके साथ आनन्द क्रीड़ा करूं' ऐसा निदान करके आलोचना प्रायश्चित्त लिये बिना ही मृत्यु पाकर स्वर्ग में गई, वहां से फिर द्रौपदी पने में उत्पन्न हुई । गौवनावस्था प्राप्त होने पर पिता ने उसके पाणिगृहण के लिए स्वयंवर की रचना की, अनेक राजा, महाराजा आदि एकत्रित हुए । तब पूर्व कृत निदान के प्रभाव से विलास की भावना वाली द्रौपदी युवती ने स्वयंम्बर में जाने के लिए स्नानादि कर वस्त्राभूषणों से शरीर को अलंकृत किया फिर जिन घर में जाकर जिन प्रतिमा की पूजा करके स्वयंवर मण्डप में गई और वहां अन्य सब राजा, महारा-

आमों को दुबकर निदान के प्रमाण से पाण्डु पुत्र के गर्भ में घर माना जालकर पाँच पति की पत्नि बनी भादि ।

इस कथामक पर से यह घटित होता है कि त्रीपरी ने जिन जिन प्रतिमा की पूजा की थी वह जिन प्रतिमा, पाठकों के पूर्व परिचित हय तीसरी भेरि के जिन (चामदेव) की ही मूर्ति हानी जादिय । निम्नोक्त हेतु इसको सिद्ध करते हैं—

(अ) जिन प्रतिमा पूजा के समय त्रीपरी जैन धर्मिणी भाविका) नहीं थी और निदान पूर्ति के पूर्व वह भाविका भी नहीं हो सकती है न सम्पत्त्य ही पा सकती है, क्योंकि निदान प्रभाव ही ऐसा है । यदि त्रीपरी के निदान को मन्त्र का कहा जाय तो मन्त्रसंवाला निदान भी पूरा हुए बिना अपना प्रभाव नहीं हुन सकता और त्रीपरी की निदान पूर्ति होती है पाणिग्रहण के पश्चात् अतएव पाणिग्रहण के पूर्व त्रीपरी में सम्पत्त्य का होना एकदम असम्भव मान्य होता है । याम् पुत्र में भी सम्पत्त्य ग्रहण में आने समय त्रीपरी पर निदान का असर पाने वाला मूल पाठ स्पष्ट रूप से मिलता है उदिय—

पुत्रकथं गिराणण बोद्धउज्जमाणी”

जब मूर्ति पूजा के पश्चात् भी त्रीपरी के लिए सूत्रकार ‘पुत्र’ उक्त निदान से प्रमाण नही मिलता है तो पहल पूजा के समय उस परम निदान के प्रभावस हटक सम्पत्त्य को कैसे प्राप्त हो गई । यह एक इस पर ज्ञा । मनन करें कि जब सम्पत्त्य ही ज्ञान में नहीं है । यह भी ज्ञान का आगच्छ जब कैसे मान सकता है । अतएव यह स्पष्ट कहा कि त्रीपरी की प्रतिमा पूजा की बहुत मूर्ति का पूजा नहीं हो सकती ।

निदान ग्रस्त के संस्कार ही ऐसे बन जाते हैं कि जिनके प्रभाव से जब तक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो जाय तब तक वह उसी विचार और उधेड़बुन में लगा रहता है। यहां द्रौपदी के हृदय में निदान प्रभाव से विलासिता की पूरी आकांक्षा थी, अखण्ड भोग प्राप्त करना ही जिसका मुख्य लक्ष्य था, वस इसी ध्येय को लक्ष्य कर द्रौपदी ने अपनी यह इच्छा पूर्ण करने को ऐसे ही देव की मूर्ति की पूजा की। उसे उस समय वस केवल इसी की आवश्यकता थी।

यदि द्रौपदी उस समय श्राविका ही होती, तो वह पांच पति क्यों चरती ? अगर पांच पति से पाणिग्रहण करने में उस पर निदान प्रभाव कहा तो पूजा के समय जो कि स्वयं-चर के लिए प्रस्थान करते समय की थी, निदान प्रभाव कहां चला गया ? इस पर से यह सत्य निकल आता है कि द्रौपदी की पूजा हुई मूर्ति तीर्थङ्कर की नहीं होकर कामदेव ही की थी। सौभाग्य एवं भोग जीवन की सामग्री की पूर्णता एवं प्रचुरता ऐसे ही देव से चाही जाती है।

(आ) विवाह के समय द्रुपद राजा ने मद्य, मांस का आहार बन्दवाया था, यह द्रौपदी के परिवार को ही अजैन होना पता रहा है। इस पर से भी द्रौपदी के श्राविका नहीं होने का ही अनुमान ठीक मिलता है।

(इ) द्रौपदी के विवाह पश्चात् उसका पांच पति रूप निदान पूर्ण होकर सम्यक्त्व की बाधा भी दूर हो जाती है, और विवाह बाद के वर्णन से ही द्रौपदी का श्राविका होना पाया जाता है, लग्न पश्चात् के जीवन में ही व्रत नियम,

तपश्चर्या का कथन है। संयमाराधन का भी इतिहास मित्र
 ना है किन्तु तप के बाद से लेकर संयमाराधन और अंतिम
 अनशन के सारे जीवन विस्तार में कहीं भी मूर्ति-पूजा का
 उल्लेख नही करने पर भी नहीं मिलता है। यदि मूर्ति-पूजा
 धार्मिक करणी में मानी गई होती तो उसका वर्णन भी धा-
 र्मिक करणी के साथ अवश्य मिलता। इस पर से भी धार्मिक
 छत्पों में मूर्ति पूजा की उपादेयता सिद्ध नहीं हो सकती।

इसके सिवाय ग्रीष्मी के प्रतिमा पूजा के प्रकरण में उमो
 त्पुत्र और सूर्यामदेव की साढ़ी के पाठ होने का भी कहा
 जाता है किन्तु यह पाठ मूल का होना सिद्ध नहीं हो सकता,
 कारण प्राचीन हस्त लिखित ग्रंथों में अपरोक्ष नमोत्पुत्र
 भावि पाठ का नहीं होना है और आचार्य अभयदेव सूरि ने
 भी इस बातको स्वीकार कर वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है, आ-
 चार्य अभयदेवजी का समय बारहवीं श० का है अथ से १९
 वीं और १७वीं शताब्दी तक की ग्रंथों में प्रायः—

“जिण पडिमाणं अरुचयां करेई”

इतना ही पाठ मिलता है। स्वयं इस लेखक ने भी दिल्ली
 में भीमान काला मन्मूलाजी अभबाब के पास बहुत प्राचीन
 और जीह अरुचया में बाता धर्म कथा की एक प्रति देखी,
 उसमें भी केवल उक्त पाठ ही है। इसी प्रकार विशनगढ़ में
 भी एक प्रति उक्त प्रकार के ही पाठ को पुष्ट करने वाली है।
 टीकाकार भी अभयदेवजी भी मूल पाठ में केवल उक्त वाक्य
 का स्थान देकर बाकी के पाठ को बाधमांतर में होना बताते
 हैं बेलिमे—

जिणपडिमाण अरुचयां करेइति—एकरुपां
 वाचनाया मेतावदेव हरपत, वाचनान्नरेतु”

इस प्रकार मूल पाठ को इतना ही स्वीकार कर वाचना-
न्तर में अधिक पाठ होना माना है। इससे अनुमान होता
है कि-द्रौपदी के अधिकार में एमोत्युणं आदि अधिक पाठ
इस जिन प्रतिमा को तीर्थङ्कर प्रतिमा सिद्ध करने के अमि-
प्राय से किसी शंकाशील प्रति लेखक ने बढ़ा दिया हो, और
वह पाठ सर्व मान्य नहीं है यह स्पष्ट है।

इनने विवेचन पर से यह अच्छी तरह सिद्ध होगया कि
लग्न प्रसंग पर निदान के प्रभाव से मिथ्यात्व वाली द्रौपदी
से पूजी हुई जिन प्रतिमा तीर्थङ्कर की मूर्ति नहीं हो सकती
ऐसे प्रकरण पर से मूर्ति-पूजा को धार्मिक व उपादेय सम-
झना अनुचित है। स्वयं टीका-कार भी द्रौपदी के इस पूजा
प्रकरण में लिखते हैं कि—

‘नच चरितानुवादवचनानि विधि निषेध
साधकानि भवन्ति’

ऐसी अवस्था में कथानक की ओट लेकर विधिमार्ग में
प्रवृत्त होने वाले और व्यर्थ के आरम्भ समारंभ कर आत्मा
को अनर्थ दरुड में डालने वाले बन्धु वास्तव में दया के पात्र
हैं।



१—“सूर्याम देव” ।

प्रश्न—सूर्यामदेव ने जिन प्रतिमा की पूजा की ऐसा राजप्रशंसीय सूत्र में लिखा है, इससे मूर्ति-पूजा करना सिद्ध होता है फिर आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—सूर्यामदेव के चरित्र की ओट लेकर मूर्ति-पूजा में धर्म बताना सिद्धा है ।

सूर्याम की मूर्ति पूजा से तीर्थकर की मूर्ति पूजा करना ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि—

तरकाल के उत्पन्न हुए सूर्यामदेव ने अपने सामानिक देव के कहने से वर्षपरा से खल आते हुए जीताकार का पासन किया है । और जिन प्रतिमा के साथ २ भाग मूर्त प्रतिमा आ कि—उससे ह—की जाति के देवों की है उनकी और अन्य ३६ पदाय द्वाग शाय्या तोरण बाधनी नागदस्ता आदि की पूजा की है सूर्याम को उस समय जीताकार के अनुसार देव भी नाम बन्ने थे जो उससे पहले यहाँ उत्पन्न होने वाले सभी देवों ने किया थे उनका यह कार्य धर्म युक्ति से नहीं था ।

दूसरा—सूर्याभ की पूजा हुई प्रतिमा तीर्थकर प्रतिमा ही है इसमें कोई प्रमाण नहीं, कारण वहां बताई हुई प्रतिमाएं शास्वत हैं, जिसकी आदि और अन्त नहीं, और तीर्थकर शास्वत नहीं हो सकने (यद्यपि तीर्थकरत्व शास्वत है किंतु अमुक तीर्थकर शास्वत है यह नहीं हो सकता) क्योंकि—वे जन्मे हैं इसलिये उनकी आदि और अन्त है, देवलोक में बताई हुई ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन, वारिसेन इन चार नाम वाली मूर्तिएं शास्वत होने से तीर्थकरों की नहीं हो सकती । यह तो देवताओं की परम्परा से चली आती हुई कुल, गौत्र, या ऐसे ही किसी देव विशेष की मूर्ति हो सकती है, क्योंकि—जहां प्रतिमाओं का नाम है वहां पृथक् २ देवलोक में होते हुए भी सभी जगह उक्त चारों नाम वाली ही मूर्तिएं बताई गई हैं । यदि ये मूर्तिएं तीर्थकरों की होती तो इन चार नामों के सिवाय अन्य नाम वाली और अशास्वती भी होनी चाहिये थी, हा यदि तीर्थकर केवल चार ही होते तब तो वे मूर्तिएं तीर्थकर की कभी मानी भी जा सकती, किंतु तीर्थकर की संख्या हर एक काल-चक्र के दोनों विभागों में चौबीस से कम नहीं होती, अतएव देवलोक की मूर्तिएं तीर्थकरों की होना सिद्ध नहीं हो सकती ।

सूर्याभ के इस कृत्य को धार्मिक कृत्य कहने वालों को निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिये—

(अ) जिन प्रतिमा के साथ द्वार, तोरण, ध्वजा, पुष्करणी आदि को पूज कर सूर्याभ ने किस धर्म की आराधना की ?

(आ) सूर्याम के पूर्ण मन्त्रमें प्रवेशी राजा का जीव किनता
 दूर हिंसक और नर्क गति की ओर लौटाने वाले कर्म करने
 वाला था यदि ये ही कृत्य खासू रहते तो अचानक उसे मार
 करीय यातनाएँ सहन करनी पड़ती। किन्तु जीवन के उत्तर
 विभाग में धीमान् केशीकुमार अमण के उपदेश से उसने
 धर्मागमन तपश्चर्या परिग्रहसहम, अन्तिम संतोहका
 आदि क्रियाओं द्वारा संचित पाप पुण्य का नाश कर पुण्य का
 प्रबल संचार हस्तगत किया, क्या इस पाप पुण्य संहारिणी और
 पुण्य उद्ध्य करने वाली करणी में कहीं मूर्ति पूजा का भी नाम
 निशान है ?

(इ) सूर्याम ने उत्पद्य होकर मूर्ति-पूजा की, इसके बाद
 भी कभी नियमित रूप से उसने पूजा की है क्या ? क्योंकि
 धार्मिक कृत्य तो सर्वत्र किये जाने चाहिये जैसे सामायिक
 प्रतिपन्नण आदि पूष मन्त्र के आचक प्रति दिन धार्मिक
 कृत्य करत थे इसका वर्णन सूत्रों में पाया जाता है। इसी
 तरह यदि मूर्ति पूजा का भी धार्मिक क्रिया में स्थान होता
 तो किसी न किसी स्थान पर एक भी आशुवर्ष के जीवन
 काल में उसका अवश्य निशान मिलता। इसी प्रकार मूर्ति पूजा
 यदि धार्मिक करणी होती तो सूर्याम सर्वत्र इस क्रिया को
 करता या न करता प्रसंग पर तो कुल रिवाज अवस्था जीताबाद
 भी पाला जाता है।

(इ) सूर्याम का दृढ़ प्रतिव्रत कुमार रूप अन्तिम भव है
 उसमें आरित्र धम की आराधना कर मुक्ति प्राप्त करने का
 यत्न है उसमें भी कहीं मूर्ति पूजा का कथन है क्या ?

जय हमारे मूर्ति-पूजक बंधु इन बातों पर विचार करेंगे तब उन्हें भी विश्वास होगा कि-मूर्ति पूजा को धर्म कहना मिथ्या है ।

सूर्याभ की यह करणी जीताचार की थी, धर्माचार (आत्मोत्थान) की नहीं । वर्तमान में भी राजा महाराजा विजया दशमी को कुलदेवी, तलवार, चन्द्रक, तोप, घड़ियाल नक्कारे, निशान, हाथी, घोड़ा आदि की पूजा करते हैं, यह सभी कृत्य परंपरा से चले आते हुए रिवाज में ही सम्मिलित हैं । सम्यक्त्वी श्रावक भी दीपावली पर वही, दवात, कलम, धन, सुपारी के बनाये हुए गणेश, कल्पित लक्ष्मी आदि की पूजा करते हैं, ये सभी कार्य सांसारिक पद्धति के अनुसार हैं, इसमें धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । न कोई सम्यक्त्वी ऐसी क्रियाओं में धर्म मानते ही हैं । इस प्रकार के लौकिक कार्य पूर्व समय में बड़े २ श्रावकों ने भी किये हैं, उनमें भर-तेश्वर, अरहन्तक श्रावक आदि के चरित्र ध्यान देने योग्य हैं ऐसे सांसारिक कृत्यों को धर्म कहना, या इनकी ओट लेकर निरर्थक पाप वर्द्धक क्रिया में धर्म होने का प्रमाणित करना, जनता को धोखा देना है ।

यदि थोड़ी देर के लिए हम हमारे इन भोले बन्धुओं के कथनानुसार देवलोक स्थित मूर्तियों को तीर्थङ्कर मूर्ति मान लें तो भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि— जिस प्रकार वर्तमान समय में आदर्श नेताओं के चित्र मूर्तिएं स्मारक रूप में बनाये जाते हैं, बम्बई में स्वर्गीय विठ्ठलभाई पटेल की प्रतिमा है, महाराणी विक्टोरिया की

मूर्ति बड़े २ शहरों में रही हुई है इसी प्रकार महात्मा गांधी लोकमान्य तिलक गोलमाले आदि क इमारतों की संख्या में बिना तथा कहीं २ किसी की मूर्ति भी दिखाई देती है कई देशी राज्यों में राजाओं के पुतले (मूर्तियाँ) बड़ी संख्या में साथ बगीचों (गार्डनों) में एकत्र हो गए मिलते हैं, ये सभी स्मारक हैं मामनीय पुरुषों की यादगार में बने हैं इसी प्रकार जगत हितकर्ता विश्वोपकारी देवेन्द्र नरेन्द्रों के पूजनीय अनन्तदासी प्रभु की मूर्ति पक्षियों द्वारा बनाई जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जब हम सभी कसबों के साथ बिना कला को भी बनादि मानते हैं और देवों की कला कुशलता विशिष्ट प्रकार की कहते हैं । तो फिर महान् ऐश्वर्यशाली देव जो प्रभु के उत्कृष्ट रागी और भक्त हैं वे यदि उनकी हीरे जवाहिरात की भी मूर्ति बनवाएँ तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । जो जिसे आवरणार्थ मानता है वह उसकी यादगार में उसका चित्र बनावे या बनवावे यह स्वाभाविक है किन्तु ये सभी स्मारक में ही निभे जाते हैं हममें धार्मिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसे कृत्यों में धर्म समझकर अमित उच्च उच्च और अगणित ब्रह्म, स्थावर जीवों का विनाश कर डालना केवल मूर्खता ही है । यदि मूर्ति-पूजक प वेसरदासजी के शब्दों में कहा जाय तो धार्मिक विधानों की सिखी किसी कथा की ओट लेकर नहीं हा सकती उनके लिए विधि बाध्य ही होमे चाहिए इस-लिए धर्म के मुख्य अङ्ग कह जाने वाले कार्य के लिए कोई स्नात विधि का प्रमाण नहीं बताकर किसी कथा की ओट लगा और उसमें भाव को तोड़ मरोड़ कर समझानी की ब-तान करना यह धर्म में एक कोही कल्पित और असत्य सिद्ध करना है ।

कथानक के पात्र स्वतंत्र हैं, वे अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं, उनके किये कार्य सभी के लिए सर्वथा उपादेय नहीं हो सकते, और विधि विधान जो होता है वो सभी के लिए समान रूप से उपादेय होता है, उसके लिए खास शब्दों में कथन किया जाता है। अमुक कार्य इस प्रकार करना ऐसा स्पष्ट वाक्य विधि में गिना जाता है। जिस प्रकार मूर्ति पूजक आचार्यों ने मूर्ति पूजा किस प्रकार करना, किस समय किस सामग्री से करना इस विषय में ग्रन्थों के पृष्ठ के पृष्ठ भर डाले हैं, इसी प्रकार यदि गणधरोक्त उभयमान्य सूत्रों में भी कहीं बताया गया होता या केवल इतना भी कहा गया होता कि—‘श्रावकों को मूर्ति-पूजा करना चाहिये, मुनिग्रों को दर्शन यात्रा आदि करना व उस संबन्धी उपदेश देना चाहिए, संघ निकलवाना चाहिए, आदि कथन होता तो ये लोग सर्व प्रथम ऐसा प्रमाण बड़े २ अक्षरों में रखते किन्तु जब सूत्रों में ही नहीं तो लावे कहां से ? अतएव सूत्रों में मूर्ति पूजा का विधान देने का कहना और सूर्याभ के कथानक की अनुचित साक्षी देना मृपावाद और हिंसावाद के पोषण करने समान है। समझदारों को चाहिए कि वे निष्पक्ष बुद्धि से विचार कर सत्य को ग्रहण करें।



३—“आनन्द आषक”

प्रश्न-आत्मस्य आधक मे जिन प्रसिमा जांदी है, ऐसा कयम इपरासक दशांग' मे है इस विषय मे आपका क्या कहना है ?

उत्तर—बहुत कथन भी असत्य है। उपासकवर्गों में भानन्द के विन प्रतिमा सम्मेलन का कथन नाम मात्र की भी नहीं है। यह तो इन बन्धुओं की विप्लव (किन्तु अन्य धर्म आनुषंगिकों में सफल) चेष्टा है। ये लोग मात्र वहाँ आये हुए वैष्णव शब्द से ही मूर्ति सम्मेलन का अङ्गात् अङ्गात् हैं, जो कि संस्था अनुचित है। यह शब्द किस विषय में और किस अर्थ का प्रयोग में आया है पाठकों की जानकारी के लिए उस स्थान का वह पृष्ठ निकालकर प्रस्तुत किया जाता है—

नोऽन्तर्मे भूते कल्पईच्छत्पुष्पमिदं अन्नठत्थिपमा
अगणउत्थियदेवयाणिवा, अयस्सत्थिपपरिग्गाहि
याणिवा येइयाइ पविस्तएवा, णमसित्तएवा, पु

त्रिंशत्ताणतेणं आलवित्तएवा, संलवित्तएवा, तेसिं
असणंवा, पाणंवा, खाइमंवा, साइमंवा, दाउंवा
अणुप्पदाउंवा' ।

अर्थात्—इसमें आनन्द श्रावक प्रतिज्ञा करना है कि—
निश्चय से आज पश्चात् मुझे अन्य तीर्थिक, अन्य तीर्थ के
देव, और अन्य तीर्थी के ग्रहण किये हुए साधु को वंदन
नमस्कार करना, उनके बोलाने से पूर्व बोलना, बारंबार बो-
लना, असण, पाण, खादिम, स्वादिम, देना, बारंबार देना,
यह नहीं कल्पता है ।

अब कल्पता क्या है सो कहते हैं—

‘कप्पइ मे समणेणिग्गन्थे फासूएणं ऐसणि-
ज्जेणं, असण, पाण, खाइम, साइम, वत्थ, पड्डि-
ग्गह, कवल, पादपुच्छेणं, पीठ, फलग, सिज्जा,
संधारेणं, ओसह, भेसज्जेणं, पड्डिलाभेमाणे वि-
हरित्तए' ।

अर्थात्—आनन्द श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि—मुझे
श्रमण निर्ग्रंथ को प्राप्त कृपणिक असण पाण, खादिम, स्वा-
दिम, वत्थ, पात्र, कम्बल, पात्रपुच्छना, पीठ, फलक, शया,
संधारा, औषधि, भेषज्य प्रतिलाभते हुये विचरना कल्पता
है । यहा आनन्द श्रावक सम्बन्धी कल्पनीय तथा अकल्प-
नीय विषयक दोनों पाठ दिये गये हैं, इस पर से मूर्तिपूजा
कैसे सिद्ध हो सकती है ? मूर्तिपूजक लोग अर्वाचीन प्रतिश्रौं

में निम्न रेखांकित शब्द बढ़ाकर कहते हैं कि—आमन्त्र धावक ने जिन प्रतिमा बांदी है। बढ़ाया हुआ शब्द सम्बन्धित धावक के साथ इस प्रकार है—

‘अथवा उत्थि परिगृह्णीयाथि ‘अरिहत’
‘वेइयाह’

उक्त पाठ में रेखांकित अरिहत शब्द अधिक बढ़ाकर इस शब्द से यहाँ यह अर्थ करते हैं कि—

अमन्त्र तीर्थियों के प्रहस्य किये हुए अरिहन्त धैर्य-जिन प्रतिमा (इसे धम्पन नहीं करे)

इस तरह ये लोग पाठ बढ़ाकर और उसका अनमाना अर्थ करके उनसे मूर्तिपूजा सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु इस प्रकार की खालाकी कुछ जनता में अधिक घेर नहीं टिक सकती क्योंकि समझदार जनता अब प्राचीन प्रतियों का निरीक्षण करके उनमें बढ़ाया हुआ अरिहत शब्द नहीं देखेगी तो आपकी खालाकी एक बम एकदो खा सकेगी क्योंकि प्राचीन प्रतियों में यह अरिहत शब्द ही नहीं। इसके सिवाय—

(अ) एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से प्रकाशित उपामन्त्रशोक की प्रति में तो अरिहत-‘वेइयाह’ शब्द नहीं है और उसके अग्रजी अनुषाङ्क ए० एफ० रूडोल्फ़ होनेसे साक्ष्य में अनेक प्राचीन प्रतियों पर से नोट में ऐसा लिखा है कि—

अथ और अरिहत धैर्य शब्द टीका में से लेकर मूल में मिला दिया है जिस टीका में लिखा है कि—पूजनीय अरि हत देव या धैर्य है।

(आ) मूर्तिपूजक विद्वान् पं० बेचरदासजी ने 'भगवान् महावीरना दश उपासको' नामक पुस्तक लिखी है जो कि—उपासगदशांग का भाषानुवाद है उन्होंने भी उक्त पाठ के अनुवाद में पृ० १४ के दूसरे पेरे में उक्त एशियाटिक सोसायटी की प्रति के समान ही 'अरिहंत चैत्य' रहित पाठ मानकर भाषान्तर किया है । देखिये—

'आजथी अन्य तीर्थिकों ने, अन्य तीर्थिक देवताओं ने, अन्य तीर्थ के स्वीकारेला ने, वन्दन अने नमन करवुं मने कल्पे नहीं' आदि ।

उपरोक्त विचार से यह सिद्ध हो गया कि—पीछे के किसी मूर्ति पूजक लेखक ने आदर्श श्रावकों को मूर्ति पूजक सिद्ध करने के लिये ही 'अरिहंत' शब्द को मूल में प्रक्षिप्त कर अपने श्रद्धालु भक्तों को भ्रम में डाला है, किन्तु इतना कर लेने पर भी इनकी इष्ट सिद्धि तो नहीं हो सकी, क्योंकि इस में निम्न कारण विचारणीय हैं—

(क) श्रावक महोदय ने अपनी पूर्ण प्रतिज्ञा में कहा कि—मुझे अन्य तीर्थी आदि को वन्दनादि करना उनको चारों तरह का आहार देना तथा बिना बोलाये उनसे बोलना, वारंवार बोलना ऐसा मुझे नहीं कल्पता है, इससे यह सिद्ध होता है कि—इस प्रतिज्ञा का सम्बन्ध मनुष्यों से ही है, आहारादि देना, दिलाना, पहले बोलना, अधिक बोलना ये क्रियाएँ मनुष्यों के साथ ही की जा सकती हैं किसी जड़ मूर्ति के साथ नहीं ।

(ख) यदि चैत्य शब्द से सूत्रकार को मूर्ति अर्थ इष्ट होता तो खान, पान आदि क्रियाओं के साथ साथ पूजा,

प्रतिष्ठा घूप, दीप नैवेद्य आदि वस्तुओं का भी निर्देश किया जाता क्योंकि-मूर्ति पूजा के काम में यही वस्तुएँ उपयोगी होती हैं। अशुभ पाम असाप संज्ञाप से मूर्ति का तो कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

(ग) कष्ट सम्बन्धो दूसरी प्रतिष्ठा में तो साधु के सिवाय अन्य किसी का भी नाम नहीं है। न वहाँ कष्ट शब्द का उल्लेख है। यदि लूणकार या भावक महोदय को मूर्ति पूजा दृष्ट होती तो इस विधि प्रतिष्ठा में उसके लिये भी कुछ न कुछ स्वाम अवश्य होता।

अतएव सिद्ध हुआ कि हमारे मूर्ति पूजक बन्धुओं ने जो अपने मनमाने शब्द और अर्थ लगाकर आत्मन् भावक को मूर्ति पूजक कहने की प्रवृत्ति की है वह सबैधा हेय है। इस मोल्ले भाइयों को अपने ही माग्य विजयानन्दसूरि (जो कहते मूर्ति पूजक थे) के लिखे कथन पर ध्यान देकर विचार करना चाहिये। आपने मूर्तिपूजा के ग्रंथ में साधुमागियों की निंदा करते हुये सम्पत्त शब्दोच्चार विन्धी की चतुर्थावृत्ति में आत्मन् भावक भिन प्रतिष्ठा वाली है' इस प्रकार में पृष्ठ ८५ पंक्ति १ से लिखा है कि—

‘यद्यपि उपासकवशांग में यह बात नहीं है’
क्योंकि-पूर्वाचार्यों ने सूत्रों को संक्षिप्त कर दिये हैं तथापि समवायांग में यह बात प्रत्यक्ष है।

इसमें विजयानन्द सूरि साफ स्वीकार करते हैं कि—
उपासकवशांग में (जिसमें कि आत्मन् भावक के सम्पूर्ण

चरित्र का चित्रण किया गया है) मूर्तिपूजा सम्बन्धी पाठ नहीं है ।' अतएव आनन्द श्रावक को मूर्तिपूजक कहना मिथ्या ही है ।

अब विजयानन्दजी ने जो सूत्रों के संक्षिप्त होने का कारण बताया और इस लिये समवायांग का प्रमाण जाहिर किया है । उस पर भी थोड़ा विचार किया जाता है—

(१) स्वामीजी ने उपासकदशांग के आनन्दाधिकार में मूर्ति पूजा का पाठ नहीं होना इसमें सूत्रों का संक्षिप्त होना कारण बताया है । यह भी असंगत है, यह दलील यहां इस लिये लागू नहीं हो सकती कि—जिस आनन्द के चरित्र कथन में सूत्रकार ने उसकी ऋद्धि, सम्पत्ति, गाड़े, जहाजे, गायें आदि का वर्णन किया हो, जिसके बन्दन, व्रताचरण के वर्णन में व्रतों का पृथक् २ विवेचन किया हो । घर छोड़कर किस प्रकार पौषधशाला में धर्माराधन करने गये, किस प्रकार एकादश प्रतिक्षाएँ आराधन की और अवधिज्ञान पैदा हुआ, गौतम स्वामी को बन्दन करना, परस्पर का वार्तालाप गौतम स्वामी को शंका उत्पन्न होना, प्रभु का समाधान करना गौतम स्वामी का आनन्द से क्षमा याचने आना, आनन्द का अनशन करके स्वर्ग में जाना इत्यादि कथन जिसमें विस्तार सहित किये गये हों । यहाँ तक कि खाने पीने के चावल, घी, पानी आदि कैसे रखे आदि छोटी-छोटी बातों का भी जहाँ उल्लेख किया गया हो, जिसके चरित्र चित्रण में सूत्र के तृतीयांश पृष्ठ लग गये हों, उसमें केवल मूर्तिपूजा जैसे दैनिक कर्तव्य का नाम तक भी नहीं होने से ही सूत्रों को संक्षिप्त कर देने की दलील ठोक देना असंगत नहीं तो क्या

है ? हम पर से तो मू० पू० बंधुओं को यह समझना चाहिये कि जिस विस्तृत कथन में ऐसी छोटी २ बातों का कथन हो, और मूर्तिपूजा जैसे धार्मिक कहे जाने वाले वैमिषिक कर्तव्य के लिये बिन्दु विसर्ग तक भी नहीं, यह साफ बता रहा है कि ये आदर्श आचर्य मूर्तिपूजक नहीं थे ।

(२) स्वामीजी ने हिम्मत पूर्वक यह डींग मारी है कि 'समवायांग में यह बात प्रत्यक्ष है' यह लिखना भी झूठ है क्योंकि समवायांग में आचर्य आचर्य का वर्णन तो ठीक पर नाम भी नहीं है । हाँ समवायांग में उपासगदर्शांग की नोंध अवश्य है उस नोंध में यह बताया गया है कि—

उपासगदर्शांग में आचर्यों के अंगर, अथाह ध्यस्तपस्य तन बसकएव राजा माता पिता समवसरण धर्माचार्य, धर्मकथा इह लोक परलोक आदि का धर्मान है'

बस समवायांग में वही नोंध है और इसी को बिजयानन्दजी मू० पू० का प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ? हाँ यदि इसमें यह कहा गया होगा कि उपासगदर्शांग में आचर्यों के मन्दिर मूर्ति पूजने वगैरह करने यात्राथ सध निकालने आदि विषयक कथन है मू० पू० के लिये यह खाल प्रमाण रूपमानी आचर्य तो थी किन्तु अब इसकी कुछ गेय भी नहीं फिर कैसे कहा जाय कि समवायांग में प्रत्यक्ष है ? बिजयानन्दजी के उक्त उल्लेख का आधार वही आया हुआ एक मात्र 'ऐत्य' शब्द ही है । जिसका शुद्ध और प्रकरण सगत अर्थ 'ध्यस्तपस्य तन नहीं करके स्वामीजी ने जो जिन मन्दिर अर्थ किया यह हम ही उक्ति से भी बाधित होना है क्योंकि—

(४) उपासगदर्शांग में जो 'ऐत्य' शब्द आया है वही

चैत्य शब्द समवायांग में भी आया है जब उपासगदशांग में ही स्वामीजी के कथनानुसार मूर्ति पूजा का लेख नहीं है तब समवायांग में केवल इसी शब्द से प्रत्यक्ष और खुल्ला मूर्ति पूजा का पाठ कैसे हो सकता है ? अतएव उपासगदशांग की तरह समवायांग का पाठ भी इसमें प्रमाण नहीं हो सकता ।

(आ) स्वामीजी ने उपासगदशांग में अपने मत के अनुकूल 'अरिहंत चेइयाइं' पाठ माना है, किन्तु स्वामीजी के दिये हुए इस समवायांग के प्रमाण पर विचार करने से वह भी उड़ जाता है, क्योंकि—

स्वामीजी तथा इनके अनुयायियों की मान्यतानुसार जो 'अरिहंत चेइयाइं' यह शब्द असल मूल पाठ का होता तो इससे मूर्ति वन्दन नहीं मान कर इन्हें समवायांग के केवल 'चेइयाइं' शब्द (जो व्यन्तरायतन अर्थ को बताने वाला है) की और आशा से तरसना नहीं पड़ता । समवायांग के पाठ का प्रमाण देना ही यह बता रहा है कि उपासगदशांग में मूर्ति पूजा का वर्णन ही नहीं है . या प्रक्षिप्त (अरिहंत चेइयाइं) पाठ में खुद इन्हें भी संदेह ज्ञात हुआ है । इस पर से भी उक्त पाठ क्षेपक सिद्ध होता है

(३) स्वामीजी के लिखे हुए उपासगदशांग में मूर्ति पूजा का पाठ नहीं होकर समवायांग में है' इससे तो उल्टी पश्चियाटिक सोसायटी कलकत्ता वाली प्रति का अरिहंत चेइयाइ बिना का पाठ ठीक जान पड़ता है, क्योंकि उपासगदशांग और समवायांग इन दोनों में मात्र 'चेइयाइं' शब्द ही

*चैत्यं-व्यन्तरायतनं, समवा० टीका पत्र १०८ सूत्र १४१ आ. स.

है ? इस पर से तो मू० पू० यधुश्री को यह समझना चाहिये कि जिस विस्तृत कथन में ऐसी छोटी २ बातों का कथन हो और मूर्तिपूजा जैसे धार्मिक कहे जाने वाले दैनिक कर्तव्य के लिये किन्तु विसर्ग तक भी नहीं यह साफ बता रहा है कि ये आवश्यक मूर्तिपूजक नहीं थे ।

(२) स्वामीजी ने हिम्मत पूर्वक यह भी मारा है कि समवायांग में यह बात प्रत्यक्ष है यह लिखना भी झूठ है क्योंकि समवायांग में आनन्द आश्रम का वर्णन तो ठीक-ठाक नाम भी नहीं है, हाँ समवायांग में उपासकदशांग का नोंध अवश्य है, उस नोंध में यह बताया गया है कि—

उपासकदशांग में आश्रमों के भगवत्, उपासक भगवत्पत्न्य तन वनसहस्र राजा माता पिता समवसरत्तु धर्माचार्य धर्मकथा इह लोक परलोक आदि का वर्णन है ।

बस समवायांग में वही नोंध है और इसी को विजयानन्दजी मू० पू० का प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ? हाँ यदि इसमें यह कहा गया होता कि उपासकदशांग में आश्रमों के भगवत् मूर्ति पूजने दर्शन करने यात्राएँ सब निकालने आदि विवरण कथन है मू० पू० के लिये यह कास प्रमाण रूपमानी जासकती थी किन्तु जब इसकी कुछ गंभीर भी नहीं फिर कैसे कहा जाय कि समवायांग में प्रत्यक्ष है ? विजयानन्दजी के ठीक उल्लेख का आधार वहाँ आया हुआ एक मात्र 'ऐत्य' शब्द ही है । जिसका कुछ और प्रकरण सगत आये 'भगवत्पत्न्य' नहीं करके स्वामीजी ने जो जिस भगवत् आये किया यह इन की उक्ति से भी बाधित होता है क्योंकि—

(अ) उपासकदशांग में जो 'ऐत्य' शब्द आया है वही

अर्थात्—उपासक दशांग में क्या है ? उपासक दशांग में उपासकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता, पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक पारलौकिक ऋद्धि विशेष, उपासकों के शीघ्र व्रत, वेरमणव्रत, गुण-पौषधोपवास व्रत, सूत्रग्रहण, तपोधान, उपासक प्रतिमा उप-सर्ग सल्लेहणा, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, उच्चकुल में जन्म फिर बोधि (सम्यक्त्व) लाभ, अन्तक्रिया करना ये सब वर्णन किये जाते हैं ।

इस सूत्र में कहीं भी मूर्ति पूजा का नाम तक नहीं है, न मन्दिर बनवाने या उसके मन्दिर होने का ही लेख है, फिर ये कैसे कहा जाता है कि समवायांग में प्रत्यक्ष है ? विचार करने पर मालूम होता है कि 'चेइयाइं' जो नगरी के साथ उद्यान और इसमें रहे हुए 'व्यन्तरायतन' के वर्णन में आया है इसीसे उन श्रावकों के मन्दिर होने या मूर्ति पूजने का कहते हैं, किन्तु इनका यह कथन भी एक दम असत्य है । क्योंकि जिस प्रकार उपासक दशांग की सूची बताई गई है उसी प्रकार अन्तकृत दशांग अनुत्तरोपपातिकदशा, विपाक इन की भी सूची दी गई है सभी में एक समान पाठ आया है, देखिये—

अंतगडाण गगराइ, उज्जाणाइ, 'चेइयाइ' अणुत्तरो-
वाइयाणं गगराइ, उज्जाणाइ, 'चेइयाइ' सुहविवागाणं ग-
गराइं, उज्जाणाइ, 'चेइयाइं' दुहविवागाणं णगराइं, उज्जा-
णाइ, 'चेइयाइं'

हो श्रीर उपासकदर्शांग का 'चेहयाह' शब्द भी स्वामीजी की मान्यतानुसार भूख पाठ का नहीं ऐसा पाया जाता है, तभी तो स्वामीजी समवायांग के मात्र 'चेहयाह' शब्दकी ओर झपटते हैं ? यद्यपि विजयानन्दजी उपासकदर्शांग में 'अरिहत चेहयाह' शब्द स्पष्ट स्वीकार नहीं करते हैं तथापि इनके यह प्रयास से यह अस्पष्टी तरह प्रमाणित हो गया कि उपासकदर्शांग में उक्त पाठ नहीं होने रूप सत्य इनको भी कुछ तो कबूल है ही और इसीसे समवायांग की ओर झेने का इनको मिथ्या प्रयास करना पड़ा ।

(ई) अब समवायांग में कैत्य शब्द किस प्रसंग पर आया है यह बत कर स्वामीजी के मिथ्या प्रयास का स्फाट किया जाता है ।

समवायांग में उपासक दर्शांग की नोंद लेते हुए बताया गया है कि उपासक दर्शांग में क्या वर्णन है ।

जैसे—सेकिठ, उवाभग दसाओ । उवाभग दसासुया उवाभयाण, यगराई उवायाण, 'चेहयाह' वणसुडा, रायणा, अम्माविपरो, समोसग्याई, वम्मापरिया, वम्मकडाओ, इहसोइय परलोइय इहिविससा, उवासयाण, सोअव्वय, वेर मण, गुणवण्णकसाण, पोसहोवरास, पडिबज्जियाओ, सुम्परिगडा, उगोवडायाई पडिमाओ उवासग्गा सलेइसाभा मत्तपण्णसायाई पावोगमणाई, वेवलोम गमणाई सुइअवण्णापा पुणोवोहि साओ, अतकिरियाओ आपविउअंति ।

चेइएत्ति—चित्तेर्लेप्यादि चयनस्य भावः कर्म-
वेति चैत्यं, संज्ञाशब्दत्वाद् देव बिंबं तदाश्रयत्वात्
तद्गृहमपि चैत्यं तच्चेह व्यंतरायतनम् नतु भग-
वतामहेतामायतनम् ।

इससे सिद्ध हुआ कि आदर्श श्रमणोपासकों को मूर्ति-पू-
जा ठहराने का कथन एकान्त झूठ है । और साथ ही मूर्ति-
पूजा आगम सम्मत है ऐसे कहने वालों के इस सिद्धांत को
फेंक देने योग्य निस्सार घोषित करता है । जिसके पास खरा
आगम प्रमाण हो वह ऐसा मिथ्या प्रपञ्च क्यों करने लगे ?
यह बात अच्छी तरह समझ में आ सके ऐसी सरल है ।



अर्थात्—अंतकृतो अनुत्तरोपपत्तिको सुव्याप्तकरो
और सुव्याप्तकरो के नगर उद्यान, चैत्य ये, इस प्रकार
आये हुए चैत्य शब्द से यह प्रश्न होता है कि—

क्या इस समा के बनाये हुए जिन मन्दिर थे, ऐसा अर्थ
माना जायगा ? नहीं, कदापि नहीं ! यहाँ का मिराबाय अर्थ
जहाँ अमृतकृतादि रहते थे यहाँ व्यन्तरायतन या यही उपयुक्त
और संगत है । यहाँ आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ उनके व
नाये हुए जिन मन्दिर या उनके जिन मन्दिर ऐसा मानने वाले
से अब यह पूछा जाता है कि ऐसा अर्थ मानने पर आपको
सुजात विपाक में बसित उन कुछ मस्जिदों बनाये लोगों के
भी जिन मन्दिर मानने पड़ेंगे । क्योंकि यह 'चैत्य' शब्द तो
वहाँ भी आया है ऐसा मानने पर जिन मन्दिर का महत्व ही
क्या रहेगा ? इतना पूछने पर यहाँ तो बड़ से हमारे मूर्ति
पूजक बन्धु कहेंगे कि नहीं यहाँ चैत्य शब्द का अर्थ जिन
मन्दिर-जिन मूर्ति नहीं होकर व्यन्तर मन्दिर ही अर्थ होगा
इस तरह एक समान वर्णन में एक जगह जिन मन्दिर व
दूसरी जगह व्यन्तरायतन अर्थ कैसे हो सकता है ?

वास्तव में ऐस वर्णनों में चैत्य शब्द का अर्थ व्यन्तरायतन
होता है । इसके लिये उपासगदर्शांग में नगरियों के साथ
आये हुए नाम प्रमाण है । जैसे

पुराबभई चेइए, कोठगो चेइए, गुणसिखाए, चेइए आदि

ऐसे वाक्यों में चैत्य शब्द का अर्थ व्यन्तरायतन ही होता
है स्वयं आगमों के टीकाकार भी हमारे इस अर्थ से सब
मत हो कर इनके कहे हुए अर्थ का उपबन्धन करते हैं,
देखिये—

‘अरिहंत’ शब्द है ही नहीं, हमारी समाज में अब तक बिना दृढ़ किसी भी प्रति का अनुकरण कर अशुद्ध पाठ दे दिया जाता है यह प्रथा विचारकों को भ्रम में डाल देती है इस-लिये हमें सच्चे शोधक बनना चाहिये, सच्चे अन्वेषक के सामने पूर्ण की चालाकिया अधिक समय नहीं ठहर सकती आशा है समाज के विद्वान इस ओर ध्यान देंगे आगमोदय समिति की प्रति का पाठ इस प्रकार है:—

आगमोदय समिति के औपपातिक सूत्र के चालीलवें सूत्र पृष्ठ ६७ पं० ४ से

अम्मडस्सणो कप्पई अन्नउत्थिया वा अन्न-
उत्थिय देवयाणिवा, अणणउत्थिय परिग्गहि-
याणिवा ‘चेइयाइं’ वंदित्तएवा एमंसित्तएवा
जावपज्जुवासित्तएवा एणणत्थ अरिहंतेवा अरि-
हंत चेइयाइं वा ।

इस पर से उपासगदशांग का अरिहंत शब्द स्पष्ट प्रक्षिप्त लेपक सिद्ध होता है, इसके सिवाय कल्पनीय प्रतिष्ठा में जो अरिहंत शब्द है वह भी अभी विचारणीय है, फिर भी जो इसको निःसंकोच मान लिया जाय तो भी इसका परमार्थ गणधरादि से लेकर सामान्य साधुओं के वंदन का ही स्पष्ट होता है, अन्यथा अंबड़ के लिए गणधरादि के वन्दना सिद्ध करने का कोई सूत्र ही नहीं रहेगा । सिवाय अरिहंत और अरिहंत चैत्य (साधु) को वन्दन नमस्कार करना कल्पता है ।

अवड-श्रावक (सन्यासी)

प्रश्न अवड श्रावक में जिन प्रतिमा बांदी देखा स्पष्ट कथन श्रीपपातिक सूत्र में है यह तो आपको मालूम है न ?

उत्तर—उक्त कथन श्री आत्मन् श्रावक के अधिकार की तरह विस्तार है यहाँ भी आप प्रसंग को छोड़ कर ही इधर उधर मटकते हैं क्योंकि अवड परिम्राजक में निम्न प्रकारसे प्रतिष्ठा की है—

शोकस्पष्ट अयणउत्थिएवा, अरणउत्थिए
वेद्ययाणिवा, अयणउत्थिए परिग्राहियाणि अरि
हत वेद्ययाणिवा, ववित्तएवा, यामसित्तएवा, जा
वपज्जुवासित्तएवा, यणत्थ अरिहंतेवा, अरिहंत
वेद्ययाणिवा, ववित्तएवा, यामसित्तएवा,

नोट—यह पाठ जो यहाँ दिया गया है सो केवल गुजराती प्रति से ही और गुजराती प्रति में भी किसी अन्य प्रति से दिया गया होगा । किन्तु यही आगमोदय समिति की प्रति का अवलोकन किया तो उसमें अक्षरवर्णीय प्रतिष्ठा में

५—“चारण मुनि”

प्रश्न—जब चारण विद्याचारण मुनियों ने मूर्ति बांटी है, यह भगवती सूत्र का कथन तो आपको मान्य है न ?

उत्तर—तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं, कारण भगवती सूत्र में चारण मुनियों ने मूर्ति को वन्दना की ऐसा कथन ही नहीं है, वहां तो श्री गौतमस्वामी ने चारण मुनियों की ऊर्द्ध अधोदिशा में गमन करने की जितनी शक्ति है ऐसा प्रश्न किया है, जिसके उत्तर में प्रभु ने यह बतलाया है कि—यदि चारण मुनि ऊर्द्धादि दिशा में जावें तो इतनी दूर जा सकते हैं उसमें ‘चेइयाइं वन्दइ’ चैत्य वन्दन यह शब्द आया है जिसका मतलब स्तुति होता है, आपके विजयानन्द जी ने भी परोक्ष वन्दन (स्तुति) को चैत्य वन्दन कहा है तो यहा परोक्ष वन्दन मानने में आपत्ति ही क्या है ? इसके सिवाय यदि इस प्रकार कोई मुनि जावे और उसकी आलोचना नहीं करे तो वह विराधक भी तो कहा गया है ? यह क्या बता रहा है ? आप यहा ईर्यापथिकी की आलोचना नहीं समझें, वहा ‘तस्स ठाणस्स’ कहकर उस स्थान की आलोचना लेना कहा है, इससे तो यह कार्य ही अनुपादेय सिद्ध होता है फिर इसमें अधिक विचार की बात ही क्या है

इस पाठ में अरिहंत चैत्य शब्द आया है जिसका साधु अथ गुरु गम्य से जाना है । और वो हि भी उपयुक्त, क्योंकि यदि अरिहंत चैत्य से साधु अर्थ नहीं लिया जायगा तो अन्य तीर्थी के साधु बन्धन का निषेध नहीं होगा और जैन के साधुओं को बन्धन नमस्कार करने की प्रतिज्ञा भी नहीं की गई ऐसा मानना पड़ेगा अनपेक्ष सिद्ध हुआ कि—अरिहंत चैत्य का अर्थ अरिहंत के साधु भी होता है और इसी शब्द में गणधर पृथ्वर अतधर तपस्वी आदि मुनियों को बन्धनादि करने की आज्ञा ने प्रतिज्ञा की थी । यह हर्गिज नहीं हो सकता कि—अरिहंत के जीत आगने 'चैत्यों' (गणधर यावत् साधु) को छोड़कर उनकी अङ्ग मूर्ति को पम्पनादि करने की आज्ञा मूर्च्छता करे । अनपेक्ष यहां अरिहंत चैत्यार्थ अरिहंत के साधु ही समझना उपयुक्त और प्रकरण समर्थ है ।

यदि अरिहंत चैत्य शब्द से अरिहंत की मूर्ति ऐसा अर्थ माना जाय का अर्थ तीर्थी के ग्रहण कर लेने मात्र से वह मूर्ति अपमन्नीय कैसे हो सकती है ? यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात होनी चाहिए कि—तीर्थंकर मूर्ति को अर्थ तीर्थी भी मान और बन्ध पूज । हां यदि साधु अर्थ तीर्थी में मिलकर उनसे मतावलम्बी हो जाय तब वो तो अपमन्नीय हो सकता है किन्तु मूर्ति क्यों ? इसमें कौनसा परिवर्तन हुआ ? उससे मानस गुण छोड़ कर शेष ग्रहण कर लिये ? यह बाधूत क्यों मानी गई ? क्योंकि विषयों पर विचार करते यही प्रतीत होता है कि—यहां अरिहंत चैत्य का मूर्ति अर्थ असंगत हो है ।

५—“चारण मुनि”

प्रश्न—जय. चारण विद्याचारण मुनियों ने मूर्ति बांदी है, यह भगवती सूत्र का कथन तो आपको मान्य है न ?

उत्तर—तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं, कारण भगवती सूत्र में चारण मुनियों ने मूर्ति को वन्दना की ऐसा कथन ही नहीं है, वहां तो श्री गौतमस्वामी ने चारण मुनियों की ऊर्ध्व अधोदिशा में गमन करने की जितनी शक्ति है ऐसा प्रश्न किया है, जिसके उत्तर में प्रभु ने यह बतलाया है कि—यदि चारण मुनि ऊर्ध्वादि दिशा में जावें तो इतनी दूर जा सकते हैं उसमें ‘चेद्याइं वन्दइ’ चैत्य वन्दन यह शब्द आया है जिसका मतलब स्तुति होता है, आपके विजयानन्द जी ने भी परोक्ष वन्दन (स्तुति) को चैत्य वन्दन कहा है तो यहां परोक्ष वन्दन मानने में आपत्ति ही क्या है ? इसके सिवाय यदि इस प्रकार कोई मुनि जावे और उसकी आलोचना नहीं करे तो वह विराधक भी तो कहा गया है ? यह क्या बता रहा है ? आप यहां ईर्यापथिकी की आलोचना नहीं समझें, वहां ‘तस्स ठाणस्स’ कहकर उस स्थान की आलोचना लेना कहा है, इससे तो यह कार्य ही अनुपादेय सिद्ध होता है फिर इसमें अधिक विचार की बात ही क्या है

६—‘चमरेन्द्र’

प्रश्न—चमरेन्द्र जिन मूर्ति का शरण लेकर स्वर्ग में गया यह भगवती सूत्र का कथन भी आपको मान्य नहीं है क्या !

उत्तर—भगवती सूत्र में चमरेन्द्र मूर्ति का शरण लेकर स्वर्ग में गया ऐसा लिखा यह कथन ही असत्य है वहाँ स्पष्ट बताया गया है कि—चमरेन्द्र कर्मस्थानवस्था में रहे हुए भी वीर प्रभु का शरण लेकर ही प्रथम स्वर्ग में गया था अतएव प्रश्न का आशय ही ठीक नहीं है । लेकिन कितने ही मूर्ति पूजक बन्धु यहाँ पर चमरेन्द्र के विचार करने के प्रसंग का पाठ प्रमास रूप लेकर मूर्ति का शरण लेना बताते हैं उस पाठ में यह बताया गया है कि—चमरेन्द्र ने विचार किया कि—चमरेन्द्र सीधे स्वर्ग में आया किस आशय से ? इस पर विचार करते करते २ उसमें तीन शरण आये, तबधा—

‘अरिहत अरिहत धैर्य भावितात्मा अणुगार’, इन तीन शरणों में मू० पू० बन्धु अरिहत धैर्य’ शब्द से मूर्ति अर्पण करते हैं किन्तु यह योग्य नहीं है । क्योंकि अरिहन्त शब्द से

केवलज्ञानादि भावगुणयुक्त अरिहन्त और अरिहन्त चैत्य से छदमस्थ अवस्था में रहे हुए द्रव्य अरिहन्त अर्थ होना चाहिये यहां यही अर्थ प्रकरण संगत इसलिए है कि—चमरेन्द्र छदमस्थ महावीर प्रभु का ही शरण लेकर गया था, और इसी लिए यह दूसरा अरिहन्त चैत्य शब्द लेना पड़ा। यदि अरिहन्त चैत्य से मूर्ति अर्थ करोगे तो चमरेन्द्र पास ही प्रथम स्वर्ग की मूर्तियां छोड़कर व अपने जीवन को संकट में डाल कर इतनी दूर तिरछे लोक में क्यों आता? वहां तो यह भयाकुल बना हुआ था इसलिए समीप के आश्रय को छोड़ कर इतनी दूर आने की जरूरत नहीं थी, किन्तु जब मूर्ति का शरण ही नहीं तो क्या करें? चार मांगलिक चार उत्तम शरणों में भी मूर्ति का कोई शरण नहीं है, फिर यह व्यर्थ का सिद्धांत कहां से निकाला गया? जब कि मूर्ति स्वयं दूसरे के आश्रय में रही हुई है। और उसकी खुद की रक्षा भी दूसरे द्वारा होती है, फिर भी मौका पाकर आततायी लोग मूर्ति का अनिष्ट कर डालते हैं तो फिर ऐसी जड़ मूर्ति दूसरों के लिए क्या शरण भूत होगी?

आश्चर्य होता है कि—ये लोग खाली शब्दों की खींचतान करके ही अपना पक्ष दूसरों के सिर लादने की कोशिश करते हैं और यही इनकी असत्यता का प्रधान लक्षण है, इस प्रकार किसी धार्मिक व सर्वमान्य, आसक्तचित्त कहे जाने वाले सिद्धांत की सिद्धि नहीं हो सकती, उसके लिए तो आसक्तचित्त विधि विधान ही होना चाहिये।



७—तुगिया के श्रावक

प्रश्न—मगवती सूत्र में कहा गया है कि तुगिया मगरी के भावकों ने जिन-मूर्ति पूजा की है, इसके मानने में क्या बाधा है ?

उत्तर—बहु कथन भी एकान्त असत्य है मगवती सूत्र में उक्त भावकों के वर्णन में मूर्ति पूजा का नाम निशान तक भी नहीं है ! किन्तु सिर्फ मूर्ति-पूजक लोगों ने उस स्थल पर आये हुए कथयक्ति कर्म्म शब्द का अर्थ मूर्ति पूजा करना ऐसा है वही तो अर्थ है क्योंकि—यह शब्द जहाँ स्नान का संक्षेप वर्णन किया गया है ऐसे जगह में अथवा पक्षपर्यंक कर्म के अर्थ में आया है वैसे धार्मिकता का रूप देना नितास्त पक्षपात है और जहाँ स्नान का विस्तार कुछ कथन है वहाँ भावकों के अधिकार में भी वह बलिकर्म शब्द नहीं है । (देखो उपवाद अनुशील प्रवृत्ति) किन्तु जहाँ स्नान का विस्तार सङ्गृहित किया गया है, वहाँ वही शब्द आया है अतएव इस शब्द से मूर्ति-पूजा करना सिद्ध नहीं हो सकता ।

टीकाकार इस शब्द का 'गृहदेव पूजा' अर्थ करते हैं, यहां गृहदेव से मतलब गौत्र देवता है, अन्य नहीं। श्रीमद् रायचन्द्र जिनागम संग्रह में प्रकाशित भगवती सूत्र के प्रथम खंड में अनुवाद कर्ता पं० बेचरदासजी जो स्वयं मूर्ति-पूजक हैं इस शब्द का अर्थ 'गौत्रदेवी तुं पूजन करी' करते हैं (देखो पृष्ठ २७६) और इस खण्ड के शब्द कोष में भी इस शब्द का अर्थ 'गृह गौत्र देवी तुं पूजन' ऐसा किया है (देखो पृष्ठ ३८१ की दूसरी कालम) इस पर से सिद्ध हुआ है कि मूर्ति पूजक विद्वान् यद्यपि बलिकर्म का अर्थ 'गृहदेवी की पूजा' करते हैं तो भी तीर्थंकर मूर्ति पूजा ऐसा अर्थ करना तो उन्हें भी मान्य नहीं है।

इस विषय में मूर्ति-पूजक आचार्य विजयानन्द सूरि आदि ऐसी कुतर्क करते हैं कि-वे श्रावक देवादि की सहायता चाहने वाले नहीं थे, इसलिए यहां 'गृहदेव पूजा' से मतलब घरमें रहे हुए तीर्थंकर मन्दिर (घर देरासर) से हैं, क्योंकि वे तीर्थंकर सिवाय अन्य देव का पूजन नहीं करते थे किन्तु यह तर्क भी असत्य है। क्योंकि भगवती सूत्र में इन श्रावकों के विषय में यह कहा गया है कि जिनको निर्यथ प्रवचन से ढिगाने में देव दानव भी समर्थ नहीं थे, आपत्ति के समय किसी भी देवता की सहाय नहीं इच्छकर स्वकृत कर्म फल को ही कारण समझते थे, किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना कि वे श्रावक लौकिक कार्य के लिये कुल परम्परानुसार लौकिक देवों को नहीं पूजते थे, क्योंकि वे भी संसार में बैठे थे, अतएव सांसारिक और कुल परंपरागत रिवाजों का पालन करते थे। प्रमाण के लिये देखिये—

(१) भरतेश्वर चक्रवर्ती सम्राट ने, चक्ररत्न, गुफा, द्वार आदि की पूजा की लौकिक देवों के आराधना के लिये तप किया । (जंबुद्वीप प्रकृति)

(२) शांति आदि तीन तीर्थंकरों ने भी चक्रवर्ती अवस्था में भरतेश्वर की तरह चक्ररत्नादि लौकिक देवों की पूजा की थी ।
(विष्णु श्रद्धा पुस्तक चरित्र)

(३) अरहन्तक-धर्मयोगासक ने माया पूजन किया, और बलवाकुल दिये । (शांताधर्मकथा)

(४) अमयकुमार ने धारिणी का रोहड़ पूर्ण करने को अष्टममहत्त तप कर देवाराधन किया । (शांताधर्मकथा)

(५) कृष्ण वासुदेव ने अपने छोटे भाई के लिये अष्टम तप कर देवाराधन किया । (अतकृत दर्शान)

(६) हेमचन्द्राचार्य ने पछानी रागी को नग्न रख कर उस के सामने बिछा सिद्ध की । (योगशास्त्र भाषान्तर प्रस्तावना)

(७) मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के शिवदत्त सूरि आदि आचार्यों ने भी देवी देवताओं का आराधन किया (मूर्ति-पूजक ग्रंथ)

(८) मूर्ति पूजक साधु प्रतिक्रमण में देवी देवताओं की प्रापता करते हैं जो प्रत्यक्ष है ।

जब कि श्रुत मूर्ति पूजक साधु ही मुनि धर्म से विकृत होकर लौकिक देवताओं का आराधन आदि करते हैं तो सम्राट में रहे हुए एवस्थ आचक लौकिक कार्य और दुर्भाव से लौकिक देवताओं को पूजे इसमें आश्चर्य की क्या

बात है ? अतएव सिद्ध हुआ कि श्रमणोपासक वंशपरंपरा
नुसार लौकिक देवों का पूजन कर सकते हैं ।

अगर इसको धर्म नहीं मानने की बुद्धि है तो इतने पर
से सम्यक्त्व चला नहीं जाता ।

और 'कयवालिक्कम्मा' शब्द का अर्थ एकान्त 'देव पूजा'
भी तो नहीं हो सकता, क्योंकि—

(क) प्रथम तो यह शब्द स्नान के विस्तार को संकोच
कर रक्खा गया है ।

(ख) दूसरा ज्ञाता धर्म कथांग के दू वें अध्ययन में मल्लि-
नाथ के स्नानाधिकार में भी यह शब्द आया है । इसलिये
इसका देव पूजा अर्थ नहीं होकर स्नान विशेष ही हो सकता
है । क्योंकि गृहस्थावस्था में रहे हुए तीर्थकर प्रभु भी चक्र-
वर्तीपन के सिवाय, माता पिता के अलावा और किसी को
वन्दन, नमन, पूजा नहीं करते अतएव यहां देवपूजा अर्थ
नहीं होकर स्नान विशेष ही माना जायगा । इस तरह वज्जि-
कर्म का अर्थ जिन मूर्ति पूजा मानना बिल्कुल अनुचित और
प्रमाण शून्य दिखाता है ।

जो कार्य आश्रव वृद्धि का तथा गृहस्थों के करने का
चरितानुवाद रूप है उसमें धार्मिकता मान कर उसमें धार्मि-
क विधि कह डालने वाले वास्तव में अपनी कूट नीति का
परिचय देते हैं ।

क्योंकि श्रावकों के धार्मिक जीवन का जहा वर्णन है वहां
इसी भगवती सूत्र के तुंगिया के श्रावको के वर्णन में यह
बताया है कि—

‘वे भावक जीवाशीव आदि नव पदार्थों के आवरण निर्ग्रन्थ प्रवचन में अनुरक्त, वान के लिए खुले द्वार वाले तथा मण्डार और अमृतपुर में भी विश्वास पाव हैं जो शीघ्रतः गुणमय प्रत्याख्याम आदि का पठन करते थे अष्टमी, चतुर्दशी पूर्णिमा अमावस्या के पीपघोषवास करमे वाले छात्र साधियों के। वान देने वाले शंका काँदादि दोष रहित व सुख अर्थ जानकार ऐसे अनेक गुण वाले थे उन्होंने स्पष्टि प्रवचन से तप संयम आदि विषयों पर प्रश्नोत्तर कीये थे, इत्यादि ।’

अबकि-भावकों के धर्म कर्त्तव्यों के वर्णन करने में मूर्ति पूजा की गद्य भी नहीं है तो फिर स्नान करने के स्नानागार में मूर्ति पूजा का क्या सम्बन्ध ? अतएव कपबलिकर्मा से जिन मूर्ति पूजन का मन कल्पित अर्थ करके उन मानवीय भावकों को मूर्ति पूजाक ठहराने की मिथ्या कोशिय स्वाध मगन नहीं है। ऐसी निर्जीव वस्तीलों में ता मूर्ति-पूजा का सिद्धान्त एकदम लखर और पायण्ड कुछ सिद्ध होता है।



८—चैत्य-शब्दार्थ



प्रश्न—चैत्य शब्द का अर्थ जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा नहीं तो दूसरा क्या है ?

उत्तर—चैत्य शब्द अनेकार्थ वाची है, प्रसंगोपात प्रकरणानुकूल ही इसका अर्थ किया जाता है, जिनागमों में चैत्य शब्द के निम्न अर्थ करने में आये हैं ।

व्यतरायतन, बाग, चित्त पर बना हुआ स्मारक, साधु, ज्ञान, गति विशेष, बनाना, (चुनना) वृत्त, विशेष इत्यादि ।

(१) नगरी के वर्णन के साथ आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ व्यतरायतन होता है, स्वयं टीकाकार भी यही कहते हैं देखिये—

चेहएत्ति चित्तेलेप्यादि चयनस्य भावः

कर्मवेति चैत्यं, संज्ञा शब्दत्वाद् देव विम्बं

तदाश्रयत्वात् तद्गृहमपि चैत्यं तच्चेह

व्यतरायतनम् नतु भगवता महितायतनम्

इसके सिवाय—

रुक्मिणी चेह्मकण्ड, शुभयाचेह्मकण्ड, (आचारांग)

(२) बाग-अर्थ में मगधती उत्तराख्ययनादि में आया है जैसे 'पुष्पयत्तिय चेह्म' मङ्गिकुम्भसि चेह्म और मूर्ति-पूजन और पुत्र की आगम्य सागरजी में अपने अनुवाद किये हुए अनुत्तरोपपातिकदशा 'विपाक सूत्र' में नगरी के साथ आये हुए सभी चैत्य शब्दों का अर्थ 'उपवन' किया है जो बाग के ही अर्थ को बताने वाला है।

(३) बिता पर बने हुए स्मारक इस अर्थ के चेह्म शब्द आचारांग और प्रश्न व्याकरण में आते हैं, जैसे 'महयचेह्म सुवा आदि है।

(४) चेह्म शब्द का साधु अर्थ उपासक दशांग व मगध ती में लिया है और अमरवेष सूरि में भी स्थानांग सूत्र की टीका में चैत्य शब्द का अर्थ साधु इस प्रकार किया है—

चैत्यमिषजिनादि प्रतिमेष चैत्यं अमरां

और बृहद्ब्रह्म भाष्य उद्देश ६ में आहा-आधाय कर्मे गाथा की व्याख्या में ऐम कीर्तिसूरि लिखते हैं कि 'चैत्योद् शिक्तस्य अर्थात् साधु को उद्देश कर बनाया हुआ आहार।

इसके सिवाय त्रिगम्बर सम्प्रदाय के पद्मपादक ग्रन्थ में भी यही अर्थ दिया है। देखिये—

सुदंज बोहसो ध्यप्पायां चेह्याहँ अर्यांथ ।

पथ महउषय सुद्ध, णाणमय जाण चेविहरं ॥ ८ ॥

चेह्य यथ मोक्षम्, दुक्ख, सुखम् च अप्पयत्तस्य चेह्वरो जिणमग्गे छप्पाय हिरे अणिय ॥ ९ ॥

(५) ज्ञान-अर्थ समवायांग सूत्र में चौबीस जिनेश्वरों को जिस वृत्त के नीचे केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ उस वृत्त को केवल ज्ञान की अपेक्षा से ही चैत्य वृत्त कहा है। इससे ज्ञान अर्थ सिद्ध हुआ, दूसरा वन्दना में चेइयं शब्द आया है उसका अर्थ भी ज्ञानवन होता है। राज प्रश्नीय की टीका में साक्षात् प्रभु के वन्दन में भी चैत्य शब्द आया है वहां टीकाकार ने 'चैत्यं तु प्रशस्त मनोहेतुत्वात्' कहकर सर्वश को ही चैत्य कह दिया है। और दिगम्बर सम्प्रदाय के षड्पाहुड में तो एण मय जाण चेदिहरं' (ज्ञान मय आत्मा को चैत्यगृह जानो) कहा है इस पर से ज्ञान और ज्ञानी शब्द भी सिद्ध होता है।

(६) गति विशेष अर्थ—ज्ञाता धर्म कथांग के अध्ययन १-४-८-६ में निम्न प्रकार आया है।

सिग्घं, चण्डं, चवलं, तुरियं, चेइयं

(७) वनाना—अर्थ आचारंग अ० ११ उ० २ में इस प्रकार आया है,—

आगारिहिं आगाराइं चेइयाइं भवंति

[८] वृत्त—अर्थ उत्तराध्ययन अ० ७ में इस प्रकार आया है।

वाएण हीर माणम्मि चेइयं मिमणोरमे

ऐसे विशेषार्थी चैत्य शब्द का केवल जिन मन्दिर और जिन मूर्ति अर्थ करना मात्र हठ धर्मीपन ही है।

विजयानन्द सूरिजी सम्प्रत्यक्ष शक्योद्धार हिंदी भाषा में
४ पृष्ठ १७५ में चैत्य शब्द का अर्थ करते हैं कि—

जिन मन्दिर जिन-प्रतिमा को चैत्य कहते हैं और चोतरे
वंद कुण्ड का नाम चैत्य कहा है इसके अपराध और किसी
वस्तु का नाम चैत्य नहीं कहा है ।

इस प्रकार मनमाने अर्थ कर डालना ठह प्रमाथों के सा-
मने कोई महत्त्व नहीं रखता क्योंकि हम तीन के विनाय
अन्य अर्थ नहीं होने में कोई प्रमाथ नहीं है । अब श्री विज-
यानन्दजी चैत्य के तीन अर्थ करते हैं तो इनके शिष्य महो-
दय शान्ति विजयजी जिनके लम्बे लोढ़े टाईटल इस प्रकार
हैं—

जनाब, फैजमान मन्त्रमेइस्म जैन श्वेताम्बर चर्मोरदेण
विद्यासागर न्यायरत्न महापात्र शान्तिविजयजी अपने गुरु
से दो कदम आगे बढ़ कर अपने गुरु के बताये हुए तीन
अर्थों में से एक को ठढ़ा कर केवल दो ही अर्थ करते हैं वे
इस प्रकार हैं ।

चैत्य शब्द के मायने जिन मन्दिर और जिन मूर्ति यह दो
होते हैं इससे ज्यादा नहीं [जैन मत पताका पृ० ७४ पं० ८]
इस तरह जहाँ मनमानी और धर जायी होती है । हटाग्रह
से ही काम चलाता हो वहाँ कुछ अर्थ की पूर्वेक्षा होना सम्भव
है क्योंकि जहाँ हठ का मावश्यक हो जाता है वहाँ ठस्तिस्थित
आगम सम्मत प्रकरणानुसृत कुछ अर्थ बताये जाय तो सो
वे अपने मिथ्या हठ के कारण उसे ही प्रकरण के प्रतिकूल हो
मनमानी अर्थ ही करेंगे । ऐसे महानुभावों से कहना है कि

रूपया तत्त्व निर्णय में तो हठ को छोड़ दीजिये, और फिर निम्न प्रमाण देखिये आपके ही मान्य ग्रन्थकार आपकी दो और तीन ही मनमाने अर्थ मानकर अन्य का लोप करने की वृत्ति को असत्य प्रमाणित कर रहे हैं—

खेमविजयजी गणि कल्पसूत्र पृ. १६० पंक्ति ६ में 'वेयावत्त-स्त चेइयस्स' का अर्थ व्यंतरनुं मन्दिर लिखते हैं, यहां आपके किये अर्थों से यह अधिक अर्थ कहां से आगया ?

यदि आप लोग चैत्य शब्द से जिन मन्दिर और जिन मूर्ति ही अर्थ करते हैं तो समवायांग में दुःख विपाक की नोंध लेते हुए बताया गया है कि—

दुह विवागाणां गगराई उज्जाणाई चेईयाई ।

क्या इस मुल पाठ में आये हुए चैत्य शब्द का भी जिन-मन्दिर या जिन मूर्ति अर्थ करेंगे ! नहीं वहा तो आप अन्य मन्दिर ही अर्थ करेंगे, क्योंकि—यदि वहां आपने उन दुःख-विपाकों (अनार्य, पापी, मलेच्छ, और हिंसकों) के भी जिन मंदिर होना मान लिया तब तो इन जिन मंदिरों का कोई महत्व ही नहीं रहेगा और मिथ्यात्वी सम्यक्त्वी का भी भेद नहीं रहेगा, इसलिये वहां तो आप चट से व्यंतर का मंदिर ही अर्थ करेंगे, इससे आपके विजयानन्दजी के माने हुए तीन ही अर्थों के सिवाय अन्य चौथा अर्थ भी सिद्ध हुआ । आपके ही 'मूर्ति-मण्डन प्रश्नोत्तर' के लेखक पृ० २८२ में प्रश्न व्याकरण के आश्रव द्वार में आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ (जोकि मनो कल्पित है) इस प्रकार करते हैं कि—

‘कोना चैत्य तो के कसाह, बावरी, मांझला पकड़-
नार, महाफर कर्मो करनार, इत्यादि पण्णा मलेच्छ बावि-
ते सर्वे यवन लोक वेवल प्रतिमा बास्ते भीषों ने इसे ते
आश्रव द्वार छे’

और इसी पृष्ठ पक्कि १ में—

‘ते ठेकाखे आश्रव द्वार मां तो मलेच्छोंना चैत्य
‘मसिदो’ ने गणावेख छे’

इससे भी चैत्य शब्द का अर्थ मंदिर और मस्जिद अर्थ
सिद्ध हुआ। अब बुद्धिमान स्वयं विचार करें कि कहाँ तो
केवल मनाकल्पित हो और तीन ही अर्थ मानकर बाकी के
लिए शून्य ठोक देना और कहाँ इन्हीं के मतानुयायियों के
माने हुए अन्य अर्थ और टीकाकारों तथा सूत्रकारों के अर्थ
को ऊपर बताये गये हैं क्या अब भी इतक मूर्खाने में कोई
कसर है ?

कुछ अनेतर विद्वानों के अर्थ भी देखिये—

(क) शब्द स्तोम महाविधि कोष में—

ग्रामादि प्रसिद्धे महावृक्षे, देवावासे जनानां, समास्प-
तरो, बुद्ध मेदे, आश्रवने, पिता चिन्हे, जनसमायां, यक्ष-
स्थाने जनानां विश्राम स्थाने, वृक्षस्थानेष, ।

(ख) हिंदी शब्धार्थ पारिजात (कोष) में— (पृष्ठ २५२)

वमायतन, मसजिद, गिर्जा, पिता गामका पूज्यवृक्ष
मकान, यक्षशाळा जिसीवृक्ष बौद्ध रुन्यासी, बौद्धों का
मठ ।

(ग) भागवत पुराण स्कन्ध ३ अध्याय २६ में--

‘ग्रहंकार स्तनो रुद्रश्चित्तं चैत्य स्तनोऽभवत्’

अर्थात्—ग्रहंकार से रुद्र, रुद्र से चित्त, चित्त से चैत्य
अर्थात्—आत्मा हुआ ।

चैत्य शब्द का मंदिर व मूर्ति यह अर्थ प्राचीन नहीं
किंतु आधुनिक समय का है, ऐसा मूर्ति पूजक विद्वान् पं०
वेचरदासजी ने अनेक प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया है ।
(‘देखो जैन साहित्यमां विकार थवाथी थयेली हानी’ नामक
नियन्ध) ये लोग कब से और किस प्रकार मूर्ति अर्थ करने
लगे हैं यह भी पण्डितजी ने स्पष्ट कर दिया है, इस नियन्ध
को सम्यक् प्रकार से पढ़कर अपने हठ को छोड़ना चाहिये ।
और यह पक्का निश्चय कर लेना चाहिये कि—धार्मिक विधि
का विधान किसी के कथानक या शब्दों की ओर से नहीं
किया जाता किन्तु ख़ास शब्दों में किया जाता है ।

इत्यादि प्रमाणों पर से हम इन मूर्ति-पूजक बन्धुओं से
यही कहते हैं कि—कृपया अभिनिवेश को छोड़कर शुद्ध
हृदय से विचार करे और सत्य अर्थ को ग्रहण कर अपना
कल्याण साधे ।



६-आवश्यक निर्युक्ति, और मरतेश्वर



प्रश्न-आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है कि ब्रह्मचर्यी मरतेश्वर ने अष्टापद पर्वत पर बीबीस तीर्थंकरों के मन्दिर बना कर मूर्ति में स्थापित की इस प्रकार भेषिक आदि अन्य भावकों ने भी मन्दिर बना कर मूर्ति पूजा की है इसे आप क्यों नहीं मानते ? क्या इसी कारण से आप ३२ सूत्र के सिवाय अन्य सूत्रों और मूल के सिवाय टीका निर्युक्ति आदि को नहीं मानते हैं ?

उत्तर-महाशय ! क्या आप इसी वक्त पर मूर्ति पूजा को धर्म का अंग और प्रभु आकाश पुरु मानते हैं ? क्या आप इसी को प्रमाण कहते हैं ? आपका यह प्रमाण ही प्रमाणित करता है कि मूर्ति-पूजा धर्म का अंग और प्रभु आकाश पुरु को मात्र ही कहते हैं, वास्तव में तो है आगम प्रमाण का हीवाका ही ।

हम आप से खानुमय यह पूछते हैं कि आपका और निर्युक्तिकार का यह कथन आवश्यक के किस मूल पद के

आधार से है ? जब कोई आपसे पूछेगा कि जिस आवश्यक की यह निर्युक्ति कही जाती है उस आवश्यक के मूल में सत्तिस रूप से भी इस विषय में कहीं कुछ संकेत है क्या ? तब उत्तर में तो आपको अनिच्छा पूर्वक भी यह कहना पड़ेगा कि मूल में तो इस विषय का एक शब्द भी नहीं है, क्योंकि अभाव का सद्भाव तो आप कैसे कर सकते हैं ? इधर प्रकृति का यह नियम है कि बिना मूल के शाखा प्रति-शाखा पत्र, पुष्प फल आदि नहीं हो सकते, अगर कोई बिना मूल के शाखा आदि होने का कहे भी तो वह सुझनों के सामने हंसी का पात्र बनता है इसी प्रकार बिना मूल की यह शाखा रूप यह निर्युक्ति (व्याख्या) भी युक्ति रहित होने से अमान्य रहती है ।

भरतेश्वर का विस्तृत वर्णन जवुद्धीप प्रक्षति सूत्र के मूल पाठ में आया है, उसमें भरतेश्वर के चक्ररत्न, गुफा, किंवाड़ आदि के पूजने का तो कथन है, पटखण्ड साधना में व्यंतिरादि देवों की आराधना व उनके लिये तपस्या करने का भी कहा गया है किन्तु ऐसे बड़े विस्तृत वर्णन में जहां कि उनको स्नान आदि का सविस्तार कथन किया गया है, मूर्ति-पूजा के लिये विन्दु विसर्ग तक भी नहीं है और तो क्या किन्तु यहां स्नानाधिकार में आपका प्रिय 'कथबलि कम्मा' शब्द भी नहीं है फिर निर्युक्तिकार का यह कथन कैसे सत्य हो सकता है ? यहां तो यह निर्युक्ति मूर्ति-पूजक विद्वानों के स्वार्थ साधन की शिकार बनकर 'निर्गतायुक्तिर्याः' अर्थात् निकल गई है युक्ति जिससे (युक्ति रहित) ऐसी ही ठहरती है इसमें अधिक कहने की आवश्यकता नहीं ।

मू० पू० का यह पाठ होने से ही ३२ सूत्रों के सिवाय प्रथम आदि भी हमको मान्य नहीं ऐसी आपकी राँका भी ठीक नहीं है। आपको स्मरण रहे कि ३२ सूत्रों के सिवाय भी जो सूत्र प्रथम, टीका, निर्युक्ति चूर्ण मान्य दीपिका, अथ चूरि आदि बीतराग वचनों को अबाधक हो तथा आगम के आशय को पुष्ट करने वाले हों तो हमें उनको मानने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु जो अथ सर्वत्र वचनों को बाधक और बनावटी या प्रक्षिप्त होकर आगम बाणी को ठँस पहुँचाने वाला हो वह अनर्थोत्पादक होने से हमें तो क्या पर किसी भी विषय के मानने योग्य नहीं है। इन टीका आदि ग्रंथों में कई स्थान पर आगमशास्त्र रक्षित भी विवेचन या कथन हो गया है इसी लिये ये ग्रंथ सम्पूर्ण अथ में मान्य नहीं हैं टीका आदि के बहाने से स्वार्थी लोगों ने बहुत कुछ गोढ़ाला कर डाला है। जिसको कसीटी पर कसने से शीघ्र ही कट्टाई खुस जाती है अतएव ऐसे बाधक अथ तो अवश्य अमान्य है।

मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि ऐसी विषय सिर पैर की बात मूल निर्युक्तिकार की नहीं होगी पीछे से किसी महाशय ने यह चतुराई (?) की होगी ऐसे चतुर महाशयों ने 'सुख स्वर्ण' में लाने की तरह मूल में भी प्रतिकूल वचन रूप पूछ मित्रादि की चेष्टा की है जो आगे चल कर बताई जायगी।

भेषिक राजा का मित्य १०८ स्वर्ण ली से पूजने का कथन भी इसी प्रकार निर्मूल होने से सिद्ध है यदि केवल १०८ के बड़े एक मोड़ आठ आठ भी निकल मारते तो उन्हें

रोकने वाला कोई नहीं था ! किन्तु जब विद्वान लोग इस कथन को वीतराग वाणी रूप कसौटी पर कस कर देखेंगे तो यह स्पष्ट पाया जायगा कि मूर्ति-पूजा के प्रचारकों ने मूर्ति की महिमा फैलाने के लिये इसे महान् पुरुषों के जीवन में जोड़ कर जहाँ तहाँ ऐसे उल्लेख कर दिये हैं । इससे पाया जाता है कि यह स्वर्ण जौ का कथन भी भरतेश्वर के कल्पना चित्र की तरह अज्ञान लोगो को भ्रम में डालने का साधन मात्र है । श्रेणिक की जिन-मूर्ति पूजा तो इन्हीं के वचनों से मिथ्या ठहरती है, क्योंकि—

एक तरफ तो ये लोग किसी प्रकार के विधान बिना ही मू० पू० करने से बारवां स्वर्ग प्राप्त होने का फल विधान करते हैं । और दूसरी तरफ श्रेणिक राजा को सदैव १०८ स्वर्गों से पूजने की कथा भी कहते हैं, इस हिसाब से तो श्रेणिक को स्वर्ग प्राप्ति होनी ही चाहिये ! जब कि मामूली चावलों से पूजने वाला भी स्वर्ग में चला जाता है तो स्वर्ण जौ से पूजने वाला देवलोक में जाय इसमें आश्चर्य ही क्या ? किन्तु हमारे प्रेमी पाठक यदि आगमों का अवलोकन करेंगे या इन्हीं मूर्ति-पूजक बन्धुओं के मान्य ग्रन्थों को देखेंगे तो आप श्रेणिक को नर्क गमन करने वाला पायेंगे ? इसीसे तो ऐसे कथानक की कल्पितता सिद्ध होती है ।

इन के मान्य ग्रन्थकार ही यह बतलाते हैं कि जब प्रभु महावीर ने श्रेणिक को यह फरमाया कि यहाँ से मरकर तुम नर्क में जावोगे, तब यह सुनकर श्रेणिक को बड़ा दुःख हुआ उसने प्रभु से नर्क निवारण का उपाय पूछा, प्रभु ने चार मार्ग

मू० पू० का यह पाठ होमे से ही ३२ सूत्रों के सिवाय
 अथ आदि भी हमको माध्य नहीं ऐसी आपकी शंका भी ठीक
 नहीं है। आपको स्मरण रहे कि ३२ सूत्रों के सिवाय भी
 जो सूत्र अथ टीका, निर्युक्ति, धूर्ति, माध्य दीपिका अथ
 खूरि आदि पीठराग वचनों को अबाधक हो तथा आगम के
 आशय को पुष्ट करने वाले हों तो हमें उनको मानने में कोई
 बाधा नहीं है। किन्तु जो अथ सर्वज्ञ वचनों को बाधक और
 बनावटी या प्रक्षिप्त होकर आगम वाणी को ठेस पहुँचाने
 वाला हो वह अनर्थोत्पादक होमे से हमें तो क्या पर किसी
 भी विद्वत् के मानने योग्य नहीं है। इन टीका आदि ग्रंथों में
 कई स्थान पर आगवाशय रहित भी विवेचन या कथन हो
 गया है इसी लिये ये अथ सम्पूर्ण अथ में माध्य नहीं है,
 टीका आदि के बहाने से स्वार्थी लोगों ने बहुत कुछ गोदाला
 कर डाला है। जिनको कसीदी पर कसने से शीम ही कड़ाई
 सुझ आती है अतएव ऐसे बाधक अथ तो अवश्य अमाध्य
 है।

मेरा तो यह बड़ा विश्वास है कि ऐसी बिना सिर पैर की
 बात मूल निर्युक्तिकार की नहीं होगी पीछे से किसी महा
 शय ने यह अतुराई (?) की होगी ऐसे अतुर महाशयों ने 'यस्य
 स्वर्णं मे ताने की तरह मूल में भी प्रतिकूल वचन रूप पूरा
 मिलाने की चेष्टा की है जो आगे चल कर बताई जाएगी।

भेषिक राजा का मित्य १०८ स्वर्णों की से पूरने का क
 थन भी इसी प्रकार निर्मूल होमे से मिथ्या है यदि छेकक
 १०८ के बड़े एक कोड़ आठ लाख की जित्त मारते तो बत्ते

रोकने वाला कोई नहीं था ! किन्तु जब विद्वान लोग इस कथन को धीतराग वाणी रूप कसौटी पर कस कर देखेंगे तब यह स्पष्ट पाया जायगा कि मूर्ति-पूजा के प्रचारकों ने मूर्ति की महिमा फैलाने के लिये इसे महान् पुरुषों के जीवन में जोड़ कर जहां तहां ऐसे उल्लेख कर दिये हैं । इससे पाया जाना है कि यह स्वर्ण जौ का कथन भी भरतेश्वर के कल्पना चित्र की तरह अज्ञान लोगो को भ्रम में डालने का साधन मात्र है । श्रेणिक की जिन-मूर्ति पूजा तो इन्हीं के वचनों से मिथ्या ठहरती है, क्योंकि—

एक तरफ तो ये लोग किसी प्रकार के विधान बिना ही मू० पू० करने से बारचां स्वर्ग प्राप्त होने का फल विधान करते हैं । और दूसरी तरफ श्रेणिक राजा को सदैव १०८ स्वर्ग से पूजने की कथा भी कहते हैं, इस हिसाब से तो श्रेणिक को स्वर्ग प्राप्ति होनी ही चाहिये ! जब कि मामूली चावलों से पूजने वाला भी स्वर्ग में चला जाता है तो स्वर्ण जौ से पूजने वाला देवलोक में जाय इसमें आश्चर्य ही क्या ? किन्तु हमारे प्रेमी पाठक यदि आगमों का अवलोकन करेंगे या इन्हीं मूर्ति-पूजक बन्धुओं के मान्य ग्रन्थों को देखेंगे तो आप श्रेणिक को नर्क गमन करने वाला पायेंगे ? इसीसे तो ऐसे कथानक की कल्पितता सिद्ध होती है ।

इन के मान्य ग्रन्थकार ही यह बतलाते हैं कि जब प्रभु महावीर ने श्रेणिक को यह फरमाया कि यहां से मरकर तुम नर्क में जावोगे, तब यह सुनकर श्रेणिक को बड़ा दुःख हुआ उसने प्रभु से नर्क निवारण का उपाय पूछा, प्रभु ने चार मार्ग

बताये । १ नौकारसी प्रत्याख्यान स्वयं करें २ कपसादासी अपने हाथों से मुनि को दान देने का लसीरक कसाई जिसमें ५०० मैसे मारता है एक दिन के लिये भी हिंसा ठक जाये, ४ पूरिया भावक की एक सामायिय करीब से, इस प्रकार बार उपाय बताये, किन्तु इनमें मूर्ति-पूजा कर भक्त विचारण का कोई मार्ग नहीं बताया । क्या प्रभु को भी मूर्ति पूजा का मार्ग नहीं सूझा ? बाउद्धान नहीं तो पद्मना स्वर्ग ही सही । इसे भी जाने दीजिये पुनः मानव मय ही सही । इतना भी यदि हो सकता तो प्रभु अवश्य मूर्ति-पूजा का नाम इन बार उपायों में या पूषक पांचवां उपाय ही बतलाकर सुचित करते किन्तु अब मूर्ति-पूजा उपादेय ही नहीं तो बतलाने कहाँ से अतएव स्पष्ट सिद्ध हो गया कि नियुक्ति के नाम से यह कथन केवल काल्पनिक ही है ।

प्रवेशी राजा ने अपने भयकर पापों का माश केवल दया दान त्याग वैराग्य तपश्चर्या आदि द्वारा ही किया है, उसने भी अपने स्वर्ग गमन के लिये किसि मन्दिर का निर्माण नहीं कराया न मूर्ति ही स्थापित की न कभी पूजा आदि भी की ।

सुमुख गाथापति केवल मुनिदान से ही मानवमय प्राप्त कर मोक्ष मार्ग के सम्मुख हुआ मेघकुंजर ने दया से ही संसार परिमित कर दिया इसी प्रकार मेतार्य मुनि मेघरथ राजा आदि के उदाहरण जगत प्रसिद्ध ही हैं तपश्चर्या से भ्रष्टाभयगार आदि अनेक महात्मा अरमाओं ने सुगति प्राप्त की है यहाँ तक कि अनेक निरपराध बरभारियों की दास्यी हिंसा कर जानने वाला अर्जुन माझी भी केवल दया माद में

ही उपाजित पापों का नाश कर मोक्ष जैसे अलभ्य और शश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है, भव भयहारिणी शुद्ध पापना से भरतेश्वर सम्राट ने सर्वज्ञता प्राप्त करली, ऐसे धर्म के चार मुख्य एवं प्रधान श्रंगों का आराधन कर अनेक आत्माओं ने आत्म कल्याण किया है किन्तु मूर्ति-पूजा से भी किसी की मुक्ति हुई हो ऐसा एक भी उदाहरण उभयमान्य ग्राह्य में नहीं मिलता, यदि कोई दावा रखता हो तो साधित करे ।

इस स्वर्ण जौ की कहानी से तो महानिशीथ का फल विधान असत्य ही ठहरता है, क्योंकि—महानिशीथकार तो सामान्य पूजा से भी स्वर्ग प्राप्ति का फल विधान करते हैं और स्वर्ण जौ से नित्य पूजने वाला श्रेणिक राजा जाता है नर्क, यह गडबड़ाध्याय नहीं तो क्या है ? अतएव भरतेश्वर और श्रेणिक के मूर्ति-पूजन सम्बन्धी कल्पित कथानक का प्रमाण देने वाले वास्तव में अपने हाथों अपनी पोल खुली करते हैं, ऐसे प्रमाण फूटी कौड़ी की भी कीमत नहीं रखते ।



१०-‘महाकल्प का प्रायश्चित्त विधान’

प्रश्न—महाकल्प सूत्र में श्री गौतम स्वामी के पूछने पर प्रभु ने कहा कि—साधु और आचर्य सदैव जिन-मंदिर में जायें यदि नहीं जायें तो कुरु या वारहपां प्रायश्चित्त आता है यह मूल पाठ की बात आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—यह कथन भी असत्य प्रतीत होता है क्योंकि जिसकी विधि ही नहीं उस कार्य के नहीं करते पर प्रायश्चित्त किस प्रकार आ सकता है ? यहाँ तो कर्माल की सफाई की गई है ।

अब इस कथन को भी कसौटी पर बढ़ाकर सत्यता की परीक्षा की जाती है ।

इन्हीं मूर्ति-पूजकों के महानिशीथ में मूर्ति पूजा से बारहवें स्वर्ग की प्राप्ति-रूप फल विधान और महाकल्प में नहीं पूजने (दशन नहीं करने) पर प्रायश्चित्त विधान किया गया है, इन दोनों बातों को इसी महानिशीथ की कसौटी पर कसकर बढ़ाई हुई कलई कोशी जाती है, देखिये—

महानिशीथ के कुशील नामक तीसरे अध्ययन में लिखा कि—

‘द्रव्यस्तव जिन-पूजा आरंभिक है और भावस्तव भावपूजा) अनारंभिक है, भले ही मेरु पर्वत समान शीघ्र प्रासाद बनावे, भले प्रतिमा बनावे, भले ही ध्वजा, लता, दंड, घंटा, तोरण आदि बनावे, किन्तु ये भावस्तव निव्रत के अनन्तवें भाग में भी नहीं आ सकते हैं’ ।

आगे चलकर लिखा है कि—

‘जिन मन्दिर, जिन प्रतिमा आदि आरम्भिक कार्यो भावस्तव वाले मुनिराज खड़े भी नहीं रहे, यदि खड़े हैं तो अनंत संसारी बने’ ।

पुनः आगे लिखा है कि—

‘जिसने समभाव से कल्याण के लिए दीक्षा ली फिर निव्रत छोड़कर न तो साधु में और न श्रावक में ऐसा समय अष्ट नामधारी कहे कि मैं तो तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा की जल, चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, फल, नैवेद्य आदि से पूजा कर तीर्थों की स्थापना कर रहा हूँ तो ऐसा कहने वाला अष्ट श्रमण कहलाता है, क्योंकि वह अनंतकाल भ्रमंत चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करेगा’ ।

इतना कहने के पश्चात् पांचवें अध्ययन में लिखा है कि—

‘निन पूजामें लाभ है ऐसी प्ररूपणा जो अधिक से करे और इस प्रकार स्वयं और हमारे अधिक लोगों फल, फूलों का आरम्भ करे तथा करावे तो दोनों सम्बन्ध बोध बुझम हो जाता है’ ।

इत्यादि खण्डनात्मक कथन जिस महानिशीथ में है : के सामने यह महाकल्प का प्रात्यक्षित विधान महाकाव्य ही प्रतिष्ठ होता है ।

यद्यपि महानिशीथ और महाकल्प की नीध नही सू है तथापि यह ध्यान में रखना चाहिये कि सभी सू तक ज्यों के त्यों मूलस्थिति में नहीं रहे हैं इनमें बहुत अनिष्ट परिवर्तन भी हुआ है । हमारे कितने ही प्रग्य आक्रमणकारी आतताईयों द्वारा नष्ट हो गये हैं । फिर कितने बचकर रहे वे भी एक लम्बे समय से (बैराग्य और वैश्यवास प्रथम समय से) मूर्ति पूजकों के ही हाथ रहे । यद्यपि सू के एक वर्ग विपयसि को भी अन्ततः सर का कारण बताया गया है तथापि धर्म के नाम पर वै विज्ञान के इच्छुक महाशयों ने सूओं के पाठों में परिण और नूतन प्रवेश करने में पुनः भी स्पृहता नहीं रखी । विषय में मात्र एक दो प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं देखिये-

(१) मूर्ति-पूजक विजयानन्दसूरि स्वयं ‘शिव तत्त्वसूत्र’ पृष्ठ ५८५ पर लिखते हैं कि—

विजयवान सूरि ने एकाधर्मांग अनेक व गृह किये ।

(२) पुनः पृष्ठ ३१२ पर लिखते हैं कि—

नर्व शास्त्रों की टीका लिखी थी वो सर्व विच्छेद होगई

(३) महानिशीथ के विषय में मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० १८७ में लिखा है कि—

ते सूत्र नो पाच्छलनो भाग लोप थई जवाथी पोताने जेट-
लु मली आव्युं तेटलुं जिनाशा मुजव लखी दीधुं ।

सिवाय इसके महानिशीथ की भाषा शैली व बीच में
आये हुए आचार्यों के नाम भी इसकी अर्वाचीनता सिद्ध क-
रते हैं ।

इत्यादि पर से स्पष्ट होता है कि आगमविरुद्ध वीतराग
वचनों का बाधक अंश शुद्धि तथा पूर्ण करने के बहाने से
या अपनी मान्यता रूप स्वार्थ पोषण की इच्छासे कई महा-
नुभावों ने सूत्रों में घुलाकर वास्तविकता को विगाड़ डाला
है, यही अधम कार्य आज भंयकर रूप धारण कर जैन-समाज
को छिन्न भिन्न कर विरोध कलह आदि का घर बना रहा
है ।

जब कि आगमों में मूर्ति पूजा करने का विधिविधान
बताने वाली आप्त आक्षा के लिये विन्दु विसर्ग तक भी नहीं
है, तब ऐसे स्वार्थियों के झपाटे में आये हुए ग्रन्थों में फल
विधान का उल्लेख मिले तो इससे सत्यान्वेषी और प्रायश्चित-
त जनता पर कोई असर नहीं हो सकता । किसी भी समाज
को देखिये उनका जो भी धर्म कृत्य है वे सभी विधि रूप से
घरान किये हुए मिलेंगे, जिस प्रवृत्ति का विधि वाक्य ही नहीं
वह धर्म कैसा ? और उसके नहीं करने पर प्रायश्चित भी
क्यों ?

लोचिये कि—एक राजा अपनी प्रजा को राजकीय नियम तथा कायदे नहीं बतावे और उसके पालन करने की विधि से भी अनभिज्ञ रखे फिर प्रजा को वैसा नियम पालन नहीं करने के अपराध में कारावास में डूस कर कठोर यातना देने तो यह कहाँ का स्याय है ? क्या ऐसे राजा को कोई स्यायी कह सकता है ? नहीं ! बस इसी प्रकार तीर्थंकर प्रभू मूर्ति-पूजा करने की आज्ञा नहीं दे और न विधि विधान ही बतावे फिर भी नहीं पूजने पर इतक विचार करें ? यह हास्यास्पद बात समझदार तो कभी भी मान नहीं सकता ।

अतएव महाकल्प के दिये हुए प्रमाण की कल्पितता में कोई संदेह नहीं और इसीसे अमान्य है ।

× × × × × × × ×

इस प्रकार हमारे मूर्ति पूजक बन्धुओं द्वारा दिये जाने वाले आगम प्रमाणों पर विचार करने के पश्चात् इनकी युक्तियों की परीक्षा करने के पूर्व निवेदन किया जाता है कि—

किसी भी वस्तु की सखी परीक्षा उसके परिणाम पर विचार करने से ही होती है जिस प्रवृत्ति से जन समाज का हित और उत्थान हो वह तो आदरणीय है और ओप्रवृत्ति अहित पतन वैसे ही दुःखदाता हो वह तत्काल त्यागने योग्य है ।

प्रस्तुत विषय (मूर्ति पूजा) पर विचार करने में यह हेयपद्यति ही सिख होती है आज यदि मूर्ति-पूजा की संय कर्ता पर विचार किया जाय तो रोमोंक हुए बिना नहीं रहता ।

आजके विकट समय में देश की अपार सम्पत्ति का हास इस मूर्ति पूजा द्वारा ही हुआ है मूर्ति के आभूषण मन्दिर

निर्माण, प्रतिष्ठा, यात्रा संघ निकालना, आदि कार्यों में अर-
बों रुपयों का व्यर्थ व्यय हुआ है और प्रति वर्ष लाखों का
होता रहता है, ऐसे ही लाखों रुपये जैन समाज के इन म-
न्दिर मूर्ति और पहाड़ आदि की आपसी लड़ाई में भी हर
वर्ष स्वाहा हो रहे हैं। प्रति वर्ष साठ हजार रुपये तो अकेले
पालीताने के पहाड़ के कर के ही देने पड़ते हैं, भाई भाई का
दुश्मन बनता है, भाई भाई की खून खराबी कर डालता है,
यहां तक कि इन मन्दिर मूर्तियों के अधिकार के लिये भाई ने
भाई का रक्तपात भी करवा दिया है जिसके लिये केशरिया
हत्याकांड का काला कलंक मू० पू० समाज पर अमिट रूप
से लगा हुआ है। इन मन्दिरों और मूर्तियों के लिये इनके
आगमोद्धारक आचार्य देवरक्त से मन्दिर को धोकर पवित्र
कर डालने की उपदेश धारा बहा कर जैनागम रहस्य ज्ञाता
होने का नीत (?) परिचय देते हैं। ऐसी सूरत में ये मन्दिर
और मूर्तियाँ देश का क्या उत्थान और कल्याण करेंगे ???

जहां देश के अगणित वन्धु भूखे मरते हैं और तड़फ २
कर अन्न और वस्त्र के लिये प्राण खो देते हैं वहां इन शूर
वीरों को लाखों रुपये खर्च कर संघ निकालने में ही आत्म
कल्याण दिखाई देता है, यह कहां की बुद्धिमत्ता है ?

इस देश में गुलामी का आगमन प्रायः मूर्ति पूजा की अ-
धिकता से ही हुआ है और हुई है करोड़ों हरिजनों की पशु
से भी बदतर दशा ! ऐसी स्थिति में यह मूर्ति-पूजा त्यागने
योग्य ही ठहरती है।

कितने ही महानुभाव यह कहते हैं कि—हम मूर्ति-पूजा
नहीं करते किन्तु मूर्ति द्वारा प्रभु पूजा करते हैं। किन्तु यह

कथन भी सत्य से दूर है । वास्तव में तो ये लोग मूर्ति ही की पूजा करते हैं और साथ ही करते हैं वैभव का सत्कार यदि आप देखेंगे तो मासूम होगा कि जहाँ मूर्ति के मुकुट कुण्डलादि आभूषण बहुमूल्य होंगे जहाँ के मन्दिर विशाल और मर्य्य महलों की भी मात करने वाले होंगे जहाँ की सजाई मनोहर और आकर्षक होगी वहाँ दूरतः पूजन करने वाले अधिक संख्या में आयेंगे अथवा जहाँ के मन्दिर मूर्ति के समस्कार की भूटी कथाएँ और महात्म्य अधिक फैल चुके होंगे वहाँ के ही दूरतः पूजक अधिकाधिक मिलेंगे ऐसे ही मन्दिरों मूर्तियों की यात्रा के लिए लोग अधिक आयेंगे संघ भी ऐसे ही तीर्थों के लिए निकसेंगे किन्तु जहाँ मामूली मोपड़ में आभूषण उचित मूर्ति होगी जहाँ विचित्रता जैसी सजाई नहीं होगी जहाँ की कल्पित समस्कारिक कियंवतियाँ नहीं फैली होगी जहाँ के मन्दिरों की व मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई होगी ऐसी मूर्तियों व मन्दिरों की कोई देखेगा भी नहीं । देखना तो दूर रहा वहाँ की मूर्तियाँ अपूर्य्य रह जायगी वहाँ के ताळे भी कमी व नौकर लोग जोल खिया करें तो मझे ही किन्तु इस गाँव में रहने वाले पूजक भी अन्य सभे सजाये आकर्षक मन्दिरों की अपेक्षा कर इन गरीब और कगाल मन्दिरों के प्रति अपेक्षा ही रखते हैं ऐसे मन्दिरों की हालत जिस प्रकार किसी धनाढ्य के सामने निर्धन और भूले दरिद्रों की होती है वस इसी प्रकार की होती है । जिसके साक्षात् प्रमत्त आज भी भारत में एक तरफ तो कोष्ठों की सम्पत्ति वाले बड़ व मिनास भवन और रंग महल के भी मात करने वाले जन मन्दिर और दूसरी ओर कई स्थानों व अपूर्य्य दशा में रहे हुए इन्हीं तीर्थंकरों की मूर्तियों वाले

निर्धन जैन मंदिर है। अतएव सिद्ध हुआ कि— ये मूर्ति-पूजक वन्धु वास्तव में मूर्ति पूजक ही हैं, और मूर्ति के साथ वैभव विलास के भी पूजक हैं। यदि इनके कहे अनुसार ये मूर्ति-पूजक नहीं होकर मूर्ति द्वारा प्रभु पूजक होते तो इनके लिए वैभव सजाई आदि की अपेक्षा और उपादेयता क्यों होती? प्रतिष्ठा की हुई और अप्रतिष्ठित का भेद भाव क्यों होता? क्या अप्रतिष्ठित मूर्ति द्वारा ये अपनी प्रभु पूजा नहीं कर सकते? किन्तु यह सभी भ्रंश बचाल है। मूर्ति के जरिये से ही पूजा होने का कहना भी भ्रंश है प्रभु पूजा में मूर्ति फोटो आदि की आवश्यकता ही नहीं है, वहाँ तो केवल शुद्धान्तःकरण तथा सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता है जिसको सम्यग्ज्ञान है, यह सम्यक् क्रिया द्वारा आत्मा और परमात्मा की परमोत्कृष्ट पूजा कर सकता है। मूर्ति पूजा कर उसके द्वारा प्रभु को पूजा पहुंचाने वाले वास्तव में लकड़ी या पाषाण के घोड़े पर बैठकर दुर्गम मार्ग को पार कर इष्ट पर पहुंचने की विफल चेष्टा करने वाले मूर्खराज की कोटि से भिन्न नहीं है।

इतने कथन पर से पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि मूर्ति पूजा वास्तव में आत्म कल्याण में साधक नहीं किन्तु बाधक है, जब कि—यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो चुका कि मूर्ति पूजा के द्वारा हमारा बहुत अनिष्ट हुआ और होता जा रहा है फिर ऐसे नग्न सत्य के सम्मुख कोई कुतर्क ठहर भी नहीं सकती किन्तु प्रकरण की विशेष पुष्टि और शंका को निर्मूल करने के लिए कुछ प्रचलित खास २ शंकाओं का प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान किया जाता है, पाठक धैर्य एवं शान्ति से अवलोकन करें।

११-क्या शास्त्रों का उपयोग करना भी मू० पू० है ?



प्रश्न—शास्त्र को जिनयाणी और ईश्वर वाक्य मान कर उनको सिर पर बढाने वाले आप भूर्ति-यूता का विरोध कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर—यह प्रश्न भी वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता का परिचय देने वाला है क्योंकि कोई भी समझदार मनुष्य कागज और स्पाई के बने हुए शास्त्रों को ही जिनयाणी या ईश्वर वाक्य नहीं मानता न पुस्तक पढ़ने ही सर्वज्ञ बनता है न पुस्तक रूप में लिखे हुए शास्त्र पढ़ने या भूले हुए को याद कराने में भी माधम रूप अथवा हाते हैं और उनके

मूर्ति को मूर्ति दृष्टि से देखने मात्र तक ही सीमित रखें तो फिर भी उतनी मूर्खता से क्या बच सकते हैं, यह स्मरण रहे कि—जिस प्रकार शास्त्रों का पठन पाठन रूप उपयोग ज्ञान वृद्धि में आवश्यक है इस प्रकार मूर्ति आवश्यक नहीं शास्त्र द्वारा अनेकों का उपकार हो सकता है क्योंकि साहित्य द्वारा ही अजन जनता में भारत के भिन्न २ प्रांतों और विदेशों में रहने वालों में जैनत्व का प्रचार प्रचूरता से हो सकता है। मनुष्य चाहे किसी भी समाज या धर्म का अनुयायी हो, किन्तु उसकी भाषा में प्रकाशित साहित्य जब उस के पास पहुंच कर पठन पाठन में आता है तो उससे उसे जैनत्व के उदार एवं प्राणी मात्र के हितैषी सिद्धान्तों की सच्ची श्रद्धा हो जाती है इस से जैन सिद्धान्तों का अच्छा प्रभाव होता है, आज भारत या विदेशों के जेनेतर विद्वान जो जैन धर्म पर श्रद्धा की दृष्टि रखते हैं यह सब साहित्य प्रचार (जो स्वल्प मात्रा में हुआ है) से ही हुआ है इसलिये जड़ होते हुए भी सभी को एक समान विचारोत्पादक शास्त्र जितने उपकारी हो सकते हैं उनकी अपेक्षा मूर्ति तो किञ्चित् मात्र भी उपकारक नहीं हो सकती, आप ही बताईये कि अजैनों में मूर्ति किस प्रकार जैनत्व का प्रचार कर सकती है ? आज तक केवल मूर्ति से ही किञ्चित् मात्र भी प्रचार हुआ हो तो बनाईये ।

प्रचार जो होता है वह या तो उपदेशकों द्वारा या साहित्य प्रचार से ही मूर्ति को नहीं मानने वालों की आज संसार में बड़ी भारी संख्या है वैसे साहित्य प्रचार को नहीं

मानने वालों की कितनी सख्या है ! कहना नहीं होगा कि साहित्य प्रचार को नहीं मानने वाली अमांगी समाज शायद ही कोई विषय में अपना अस्तित्व रखती हो । आज पुस्तक द्वारा दूर देश में रहा हुआ कोई व्यक्ति अपने से मित्र स समाज मत धर्म के नियमादि सरलता से जान सकता है परन्तु यह कार्य मूर्ति द्वारा होना अर्धमग को भी संभव बनाने सक्षम है जिस प्रकार अनपढ़ के लिये शास्त्र व्यर्थ है उसी प्रकार मूर्ति-पूजा अज्ञानों के लिये ही नहीं किन्तु भुतबान रहित मूर्ति पूजकों के लिये भी व्यर्थ है । मूर्ति-पूजक वंशु जो मूर्ति को देखने से ही प्रभु का पाद आत्मा कहते हैं यह भी मिथ्या कल्पना है यदि बिना मूर्ति देखे प्रभु पाद नहीं आते हो तो मूर्ति पूजक लोग कभी मन्दिर को जा ही नहीं सकते क्योंकि मूर्ति तो मन्दिर में रहती है और घरमें या रास्ते चलते फिरते तो दिखाई देती नहीं जब दिखाई ही नहीं देती तब उन्हें पाद कैसे आसके ! वास्तव में इन्हें पाद तो अपने घर पर ही आयाती है जिससे ये लोग ताम्बुक आदि लेकर मन्दिर को आते हैं । अतएव उक्त कथन भी अनुपादेय है ।

जिनको तीर्थकर प्रभु के शरीर या गुणों का ध्यान करना हो उनके लिये तो मूर्ति अपूर्ण और व्यर्थ है स्पाता को अपने हृदय से मूर्ति को हटाकर औपवातिक सूत्र में बताये हुए तीर्थकर स्वरूप का योग शास्त्र में बताए अनुसार ध्यान करना चाहिये मूर्ति के सामने ध्यान करने से मूर्ति स्पाता का ध्यान रोक रखती है अपने से आगे नहीं बढ़ने देती यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध बात है । अतएव मूर्ति पूजा करणी व सिद्ध नहीं हो सकती ।

११—अवलम्बन

प्रश्न— बिना अवलम्बन के ध्यान नहीं हो सकता इस लिये अवलम्बन रूप मूर्ति रखी जाती है, मूर्ति को नहीं मानने वाले ध्यान किस तरह कर सकते हैं ?

उत्तर— ध्यान करने में मूर्ति की कुछ भी आवश्यकता नहीं, जिन्हें तीर्थंकर के शरीर और बाह्य अतिशय का ध्यान करना है वे सूत्रों से उनके शरीर और अतिशय का वर्णन जान कर अपने विचारों से मनमें कल्पना करे और फिर तीर्थंकरों के भाव गुणों का चिन्तन करे बिना अनन्तज्ञानादि भाव गुणों का चिन्तन किये, अतिशयादि बाह्य वस्तुओं का चिन्तन अधिक लाभकारी नहीं हो सकता। ध्यान में यह विचार करे कि प्रभु ने किस प्रकार घोर एवं भयंकर कष्टों का सामना कर वीरता पूर्वक उनको सहन किये, और समभाव युक्त चारित्र्य का प्रालन कर ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय रूप गुण प्राप्त किये, ज्ञानावरणीयादि कर्मों की प्रकृति, उनकी भयंकरता आदि पर विचार कर शुभ गुणों को प्राप्त करने की भावना

करे, हमारी पुरुषों की स्तुति करे, इस प्रकार सहज ही में ध्यान हो सकता है, और स्वयं ध्येय ही आलम्बन बन जाता है, किसी अन्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। इसके सिवाय अमित्यादि बारह प्रकार की भावनाएँ, प्रमोदादि चार अन्य भावमाण, प्राणी मात्र का शुभ एवं हितचिन्तक स्वात्मनिष्ठा स्वर्गोप निरीक्षण आदि किसी एक ही विषय को लेकर यथाशक्य मनन करने का प्रयत्न किया जाय और ऐसे प्रयत्न में सदैव उत्तरोत्तर बुद्धि की जाय तो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो कर जीव का उत्थान एवं कल्याण हो सकता है। ऐसी एक २ भावना से कितने ही प्राणीसंसारसमुद्र से पार होकर अमन्त सुख के मोक्ष बन चुके हैं। ऐसे धर्म ध्यानों में मूर्ति की किञ्चित् मात्र भी आवश्यकता नहीं, ध्येय स्वयं आलम्बन बन जाता है। शरीर को लक्ष्य कर ध्यान करने वाले की भी केशरविजयजी गणितान्त गुजरती मायांतर वाली बीबी आहूति के योग शास्त्रपृ० १७६ में 'आहूति ऊपर एकाग्रता' विषयक निम्न श्लोक को पढ़ना चाहिये —

काइ पग पूर्य पुरुष उपर भक्ति बाला माखसो धरौ
सहेलाई भी एकाग्रता करी शकै है धारो के हमारी करी
भक्ति नी लागली भगवान महाबीर देख उपर है तेभो तेम
नी लक्ष्मणायस्था मा राजगुहीनी पासे आबेसा पैमार गिरि
नी पहाड़मी एक गाँव आड़ी बाला प्रदेश मां अग्रम ध्यान मां श्रीम
धई उभेला छ आन्यक्षे पैमार गिरि नीख आड़ी सरिता मा प्रवाहो
मा धोच अनेतेनी आहु बाहु मो हरियालो शान्त अने रमणीय
प्रदेश आनन नमारा मानसिक विषागो थी कस्यो, आ कस्य

ना शुरुआत मां मनने खुश राखनार छे, पछी प्रभु महावीर
 नी पगथी ते मस्तक पर्यंत सर्व आकृति एक चितारो जेम
 चितरतो होय तेम हलवे हलवे ते आकृति नु चित्र तमारा
 हृदय पट पर चितरो, आलेखो, अनुभवो आकृति ने तमे
 सग पणे देखता हो तेटली प्रगल कल्पना थी मनमां आलेखी
 तेना उपर तमारा मनने स्थिर करी राखो मुहूर्त पर्यंत ते उपर
 स्थिर यथां खरेखर एकाग्रता थये ।

इसके सिवाय इसी योग शास्त्र के नवम प्रकाश में रूपस्थ
 ध्यान के वर्णन में प्रारम्भ के सात श्लोकों द्वारा पृ० ३७१ में
 ध्यान करने की विधि इस प्रकार बताई गई है ।

मोक्ष श्रीसंमुखीनस्य, विध्वस्ताखिल कर्मणः ।

चतुर्मुखस्य निःशेष, भुवनामयदायिनः ॥ १ ॥

इन्दु मण्डल शंकाशच्छत्र त्रितय शालिनः ॥

लमद् मामण्डला भोग विडम्बित विवस्वतः ॥ २ ॥

दिव्य दुर्दुर्भा निर्वोष गीत साम्राज्यमम्पदः

रणद् द्विरेफ भंकार मुखराशोकशोभिनः ॥ ३ ॥

सिंहासन निषण्णस्य वीज्य मानस्य चामरैः ॥

सुरासुर शिरोरत्न, दीप्तपादनखद्युतेः ॥ ४ ॥

दिव्य पुष्पोत्कराङ्गीर्ण, संकीर्णपरिदभुवः ।

उत्कंधरैर्मृगकुलैः पीयमानकलध्वनैः ॥ ५ ॥

शांत वैरेभ सिंहादि, समुपासित संनिधे ।

प्रमोः समवसरण, स्थितेस्य पामष्ठिनः ॥६॥

सर्वातिशय युक्तस्य केवल ज्ञान मास्मत् ।

अद्वैतो रूपमालम्ब्य, ध्यान रूपस्थ मुच्यते ॥७॥

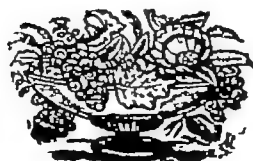
इस साठ श्लोकों में बताए अनुसार साक्षात् समवसरण में बिराजे हुए सम्पूर्ण अतिशय वाले नरेन्द्र, देवेन्द्र तथा पशु पक्षी मनुष्य आदि से सेविन तीर्थकर प्रभु का ही अवलम्बन कर ओ ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं ।

उक्त प्रकार से सब्बी आकृति को लक्ष्य कर उत्तम ध्यान किया जासकता है । ऐसे ध्यान में मूर्ति की तनिक भी आवश्यकता नहीं स्वयं ज्यों निक्षेप की भाव आकृति ही आलम्बन बन जाती है । ऐसे ध्यान कर्ता को कोई बुरा नहीं कह सकता ।

ओ मूर्ति का आलम्बन होकर ध्यान करने का कहते हैं । वे ध्यान नहीं करके सबल झूठ बन जाते हैं क्योंकि ध्याता का ध्यान तो मूर्ति पर ही रहता है, वह मूर्ति ध्याता को अपने से आगे नहीं बढ़ने देती ध्याता के सम्मुख मूर्ति होने से ध्यान में भी वही पापाण की मूर्ति रूप में स्थान पा लेती है इससे वह ध्येय में ओढ़ बन कर बसको बड़ा तक पहुँचने ही नहीं देती, जैसे एक निशाने बाण किसी वस्तु को लक्ष्य कर निशाना मारता है तो लक्ष्य को बिध सकता है । अर्थात् उसका निशाना लक्षित वस्तु तक पहुँच सकता है,

किन्तु वही निशानेवाज लक्षित वस्तु को वेधने के लिये निशाना मारते समय अपने व लक्ष्य के बीच में कुछ दूसरी वस्तु ओट की तरह रख कर उसीकी ओर निशाना मारे या बीच में दिवाल खड़ी कर फिर निशाना चलावे तो उसका निशाना वह दिवाल रोक लेती है जिससे वह लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ति को सामने रख कर ध्यान करने वाले के लिये मूर्ति, दिवाल (ओट) का काम करके ध्याता का ध्यान अपने से आगे नहीं बढ़ने देती । विना मूर्ति के किया हुआ ध्यान ही अर्हत् सिद्ध रूप लक्ष्य तक पहुँच कर चित्त को प्रसन्न और शांत कर सकता है, अतएव ध्यान में मूर्ति की आवश्यकता नहीं है ।

शास्त्रों में भरतेश्वर, नमिराज, समुद्रपाल आदि महा-पुरुषों का वर्णन आता है, वहाँ यह बताया गया है कि उन्होंने विना इस प्रचलित जड़ मूर्ति के मात्र भावना से ही संसार छोड़ा और चरित्र स्वीकार कर आत्म-कल्याण किया है, भरतेश्वर ने अनित्य भावना से केवलज्ञान प्राप्त किया किन्तु उन्हें किसी मूर्ति विशेष के आलंबन लेने की आवश्यकता नहीं हुई, अतएव ध्याता को ध्यान करने में मूर्ति की आवश्यकता है ऐसे कथन एक दम निस्सार होने से बुद्धि गम्य नहीं है ।



१३—‘नामस्मरण और मूर्ति-पूजा’



प्रश्न—जिस प्रकार आप नामस्मरण करते हैं वसी प्रकार हम मूर्ति-पूजा करते हैं यदि मूर्ति पूजा से काम नहीं तो नामस्मरण से क्या काम ? जैसे ‘मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर’ पृ० ४७ पर लिखा है कि—

“जैसे कोई पुरुष है गाय वृष वे, एम कबल मुखे भी उच्चारण कर ता तने वृष मख के नहीं ? तमे कहेसा के नहीं, त्पारे परमेश्वर ना नाम भी के आप यो पक्ष कोई कार्य सिद्ध नहीं घाय ता पक्षी तमारे परमात्मा तुं नाम पण न लवुं बाइए ।

इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—यह तो प्रश्नकर्त्ता की कृतक है और पेसी की कृतक भीमान् कश्चिन्मूर्तिजी ने भी की थी जो कि ‘जैन सत्य प्रकाश’ में प्रकट हो चुकी है इस महानुभावों को यह भी मान्य नहीं कि— कोई भी समझदार मनुष्य खासी तोठा

रत्न रूप नाम स्मरण को उच्च फल प्रद नहीं मानता, भाव युक्त स्मरण ही उत्तम कोटि का फलदाता है। किन्तु भाव युक्त भजन के आगे तोते की तरह किया हुआ नामस्मरण किंचित् मात्र होते हुए भी मूर्ति-पूजा से तो अच्छा ही है, क्योंकि केवल वाणी द्वारा किया हुआ नामस्मरण भी 'वाणी-सुप्रणिधान' तो अवश्य है, और 'वाणीसुप्रणिधान' किसी २ समय 'मनः सुप्रणिधान' का कारण बन जाता है, और मूर्ति पूजा तो प्रत्यक्ष में 'कायन्दुष्प्रणिधान' प्रत्यक्ष है, साथ ही मनःदुष्प्रणिधान की कारण बन सकती है, क्योंकि—पूजा में आये हुए पुष्पादि घ्राणेन्द्रिय के विषय का पोषण करने वाले हैं, मनोहर सजाई, आकर्षक दीपराशी और नृत्यादि नेत्रेन्द्रिय को पोषण दे ही देते हैं, वाजिन्त्र और सुरीले तान टप्पे कर्णेन्द्रिय को लुभाने में पर्याप्त है, स्नान शरीर विकार बढ़ाने का प्रथम श्रृंगार ही है, इस प्रकार जिस मूर्ति-पूजा में पांचों इन्द्रियों के विषय का पोषण सुलभ है वहां मनदुष्प्रणिधान हो तो आश्चर्य ही क्या है ? वहां हिंसा भी प्रत्यक्ष है, अतएव मूर्ति पूजा शरीर और मन दोनों को बुरे मार्ग में लगाने वाली है, कर्म-बंधन में विशेष जकड़ने वाली है, इससे तो केवल वाणी द्वारा किया हुआ नामस्मरण ही अच्छा और वचन दुष्प्रणिधान का अवरोधक है, और कभी २ मनःसुप्रणिधान का भी कारण हो जाता है, अतएव मूर्ति-पूजा से नामस्मरण अवश्य उत्तम है।

यदि यह कहा जाय कि—'हमारी यह द्रव्य-पूजा काय दुष्प्रणिधान होते हुए भी मनःसुप्रणिधान (भाव पूजा) की कारण है' तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि—मनःसुप्रणिधान

में शरीर दुष्प्रणिधान की आवश्यकता नहीं रहती, द्रव्य-पूजा से भाव-पूजा बिलकुल प्रयुक्त है भाव-पूजा में किसी जीव को मारना तो बुरा रहा सताने की भी आवश्यकता नहीं रहती न किसी अन्य बाह्य वस्तुओं की ही आवश्यकता रहती है। भाव पूजा तो एकान्त मन यत्नम और शरीर द्वारा ही की जाती है। अतएव द्रव्य पूजा को भाव-पूजा का कारण कहना असत्य है।

स्वयं हरिभद्रसुरि आवश्यक में लिखते हैं कि—

मायस्तव में द्रव्यस्तव की आवश्यकता नहीं।

और जो गाय का उदाहरण दिया गया है वह भी उल्टा प्रश्नकार के ही विरुद्ध जाता है क्योंकि—

जिस प्रकार गाय के नाम रटन मात्र से दूध नहीं मिल सकता उसी प्रकार पत्थर मिट्टी या कागज पर बनी हुई गाय से भी दूध प्राप्त नहीं हो सकता यदि हमारे मूर्ति पूजक यन्त्रु इस उदाहरण से भी शिक्षा प्राप्त करना चाहें तो सहज ही में मूर्ति पूजा का यह फन्दा उनसे बुरा हो सकता है। किन्तु ये भाई ऐसे सीधे नहीं जो मान जाय ये तो नाम से दूध मिलना नहीं मानेंगे पर गाय की मूर्ति से दूध प्राप्त करने की तरह मूर्ति पूजा तो करेंगे ही।

साक्षात् माय मिश्रण रूप प्रभु की आराधना साक्षात् गाय के समान फलप्रसू होती है किन्तु मूर्ति से रक्षित नाम प्राप्त करने की आशा रखना तो पत्थर की गाय से दूध प्राप्त करने के बराबर ही हास्यास्पद है। अतएव बेसमझी को धोड़ कर सत्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये।



१४— भौगोलिक नक्शे

प्रश्न—जिस प्रकार द्वीप, समुद्र, पृथ्वी आदि का ज्ञान नक्शे द्वारा सहज ही में होता है, भूगोल के चित्र पर से ग्राम, नगर, देश, नदी समुद्र रेलवे आदि का जानना सुगम होता है, उसी प्रकार मूर्ति से भी साक्षात् का ज्ञान होता है ऐसी स्पष्ट बात को भी आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—मात्र मूर्ति ही साक्षात् का ज्ञान कराने वाली है यह बात असत्य है । क्योंकि अनपढ़ मनुष्य तो नक्शे को सामान्य रही कागज़ से अधिक नहीं जान सकता, किसी अनपढ़ या बालक के सामने कोई उच्च धार्मिक पुस्तक रख दी जाय तो वह मात्र पुढ़िया बान्धने के अन्य किसी भी काम में नहीं ले सकता । अनसमझ लोगों की वह बात सभी जानते हैं कि जब भारत में रेलगाड़ी का चलना प्रारम्भ हुआ तब वे लोग उसे वाहन नहीं समझ कर देवी जानते थे । साक्षात् वीर प्रभु को देखकर अनेक युवतियां उनसे

रतिदान की प्रार्थना करती थी बच्चे डरके मारे रो रो कर भागते थे, अनाथ सौग प्रभु को चोर समझ कर ताड़ना करते थे जब मूर्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है, तो साक्षात् को देखने पर ज्ञान के बख्से अज्ञान विपरीत ज्ञान क्यों हुआ। साक्षात् धर्म के मायक श्रीर परम योगीराज प्रभु महावीर को देख लेने पर भी वैराग्य के बख्से राग एवं द्वेष भाव क्यों जाग्रत (पैदा) हुए ?

यह ठीक है कि जिस प्रकार पंडे सिखे मनुष्य मक्का देखकर इच्छित स्थान अथवा देखे जाईन सम्बन्धी ज्ञानका पी कर लेते हैं। यानी मक्का आदि पुस्तक की तरह ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई विद्वान मक्का देख कर इच्छित स्थान पर पहुँचने के लिये उसी मक्को पर दौड़ धूप मन्त्रादि विषमय सरोवर में जल बिछार करने की इच्छा से कूब पड़े, विषमय गाय से वृष प्राप्त करने की कोशिश करे तब तो मूर्ति भी साक्षात् की तरह पूजनीय एवं वदनीय हो सकती है पर इस प्रकार की मूर्तिका कोई भी समस्तज्ञान नहीं करता तब मूर्ति ही असन्न की बुद्धि से कैसे पूज्य हो सकती है ?

जिस प्रकार मक्को को मक्का मानकर उसकी सीमा देखने मात्र तक ही है उसी प्रकार मूर्ति भी देखने मात्र तक ही (अनावश्यक होते हुए भी) सीमित रहिये तब तो आप इस हास्यास्पद प्रवृत्ति से बहुत कुछ बच सकते हैं। इसी तरह यह आप ही का दिया हुआ उदाहरण आपकी मूर्ति पूजा में बाधक सिद्ध हुआ। अतएव आपको जरा सहज हृदय से विचार कर सत्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये।

१५—स्थापना सत्य



प्रश्न—शास्त्र में स्थापना सत्य कहा गया है उसे आप मानते हैं या नहीं ?

उत्तर—हां स्थापना सत्य को हम अवश्य मानते हैं उसका सच्चा आशय यही है कि स्थापना को स्थापना मूर्ति को मूर्ति चित्र को चित्र मानना । इसके अनुसार हम मूर्ति को मूर्ति मानते हैं, किन्तु स्थापना सत्य का जो आप समझना चाहते हैं, कि स्थापना मूर्ति ही को साक्षात् मानकर वन्दन पूजन आदि किये जाय यह अर्थ नहीं होता। इस प्रकार का मानने वाला सत्य से परे है, आपको यह प्रमाण तो वहां देना चाहिये जो मूर्ति को मूर्ति ही नहीं मानता हो । इस तरह यहा आपकी उक्त दलील भी मनोरथ सिद्ध करने में असफल ही रही ।



१६—नाम निक्षेप वन्दनीय क्यों ?

प्रश्न—नाम निक्षेप को ही वन्दनीय मानकर अन्य निक्षेप को अवन्दनीय कहने वाले नाम स्मरण या नाम निक्षेप को वन्दनीय सिद्ध करते हैं या नहीं ?

उत्तर—यह प्रश्न भी अज्ञानता से सोत प्रोत है हम नाम निक्षेप को वन्दनीय मानते ही नहीं यदि हम नाम निक्षेप का ही वन्दनीय मानते तो आपस नेमि पार्श्व महावीर आदि नाम वाले मनुष्यों को जो कि तीर्थंकरों के नाम निक्षेप में हैं उनको वन्दना नमस्कार आदि करते किन्तु गुणशून्य नाम निक्षेप को हम या कोई भी बुद्धिशाली मनुष्य या स्वयं मूर्ति पूजक ही वन्दनीय पूजनीय नहीं मानते ऐसी मूर्त में गुण शून्य स्थापना निक्षेप को वन्दनीय पूजनीय मानने वाले किस प्रकार बुद्धिमान कहे जा सकते हैं ।

हम जो नाम लेकर वन्दना नमस्कार रूप किया करते हैं यह अनस्तहानी कर्म वृत्ति के क्षेत्रक जगद्गुणकारी शुक्लवर्ण में मग्न ऐसे तीर्थंकर प्रभु की तथा उनके शिष्यों की जब हम ऐसे विश्वपूज्य प्रभु का ध्यान करते हैं तब हमारी

स्कारादि करते हैं वे भी तीन वर्ष के लल्लु के छोटे भाई के समान ही बुद्धिमान (?) है ।

हमारे सामने तो ऐसी दलीलें व्यर्थ हैं, यह युक्ति तो वहां देनी चाहिए कि जो स्थापना निक्षेप को ही नहीं मानकर ऐसे खिलौने को भी नहीं खाते हो, किन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि—जब यह दलील मू० पू० आचार्य विजयलब्धि-सूरिजी जैसे विद्वान् के कर कमलों से लिखी जाकर प्रकाश में आई हुई देखते हैं ।

नक्शे को नक्शा, चित्र को चित्र मानना तथा आवश्यकता पर देखने मात्र तक ही उसकी सीमा रखना यह स्थापना सत्य मानने की शुद्ध श्रद्धा है, नक्शे चित्र आदि को केवल कागज का टुकड़ा या पाषाण मय मूर्ति को पत्थर ही कहना ठीक नहीं, इसी प्रकार नक्शे चित्र या मूर्ति के साथ साक्षात् की तरह वर्तवि कर लङ्कपन दिखाना भी उचित नहीं ।

जम्बुद्वीप के नक्शे को और उसमें रहे हुए मेरु पर्वत को केवल कागज का टुकड़ा भी नहीं कहना, और न उसको जम्बुद्वीप या सुदर्शन पर्वत भ्रमभ्रकर दौड़ मचाना, चढ़ाई करना । इसके विपरीत चित्र आदि के साथ साक्षात् का सा व्यवहार कर अपनी अज्ञता जाहिर करना सुन्नो का कार्य नहीं है ।

हम मूर्ति पूजक बंधुओं से ही पृच्छते हैं कि—जिस प्रकार आप मूर्ति को साक्षात् रूप समझ के वन्दन पूजन करते हैं, उसी प्रकार क्या, कागज या मिट्टी की बनी हुई रोटी तथा शिल्पकारों द्वारा बनी हुई पाषाण की वादाम, सारक आदि

१७—‘शकर के खिलौने’

प्रश्न—शकर के बने हुए खिलौने—हाथी घाड़े गाय भैंस ऊँट कबूतर आदि को आप खाते हैं या नहीं ? यदि उनमें स्थापना होने से नहीं खाते हो तो स्थापना निरूपेण पशुतीय सिद्ध हुआ या नहीं ?

उत्तर—हम गाय भैंस आदि की आहृति के बने हुए शकर के खिलौने नहीं खाते क्योंकि वह स्थापना निरूपेण है स्थापना निरूपेण का मानने वाला उस स्थापना को न तो नाकता है और न स्थापना की सीमा से अधिक महत्त्व ही देता है । यदि ऐसे स्थापना निरूपेण युक्त खिलौने को कोई खावे या नाकें तो वह स्थापना निरूपेण का भङ्गकर्त्ता ठहरता है और जो कोई उस स्थापना को सीमातीत महत्त्व देकर, उसके सामने खिलाने पिछाने के उद्देश्य से घास घान पानी खावे और गाय भैंसादि से दूध प्राप्त करने का प्रयत्न करे हाथी नाकें पर सवारी करके लगे लगे वह सब साधारण के सामने तीन धर्य के बालक से अधिक शुक नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार मूर्ति को साक्षात् मानकर जो बन्धना पूजा, नम

स्कारादि करते हैं वे भी तीन वर्ष के लल्लु के छोटे भाई के समान ही बुद्धिमान (?) है ।

हमारे सामने तो ऐसी दलीलें व्यर्थ है, यह युक्ति तो वहां देनी चाहिए कि जो स्थापना निक्षेप को ही नहीं मानकर ऐसे खिलौने को भी नहीं खाते हो, किन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि—जब यह दलील मू० पू० आचार्य विजयलब्धि-सूरिजी जैसे विद्वान् के कर कमलों से लिखी जाकर प्रकाश में आई हुई देखते हैं ।

नक्शे को नक्शा, चित्र को चित्र मानना तथा आवश्यकता पर देखने मात्र तक ही उसकी सीमा रखना यह स्थापना सत्य मानने की शुद्ध श्रद्धा है, नक्शे चित्र आदि को केवल कागज का टुकड़ा या पाषाण मय मूर्ति को पत्थर ही कहना ठीक नहीं, इसी प्रकार नक्शे चित्र या मूर्ति के साथ साक्षात् की तरह वर्तव्य कर लङ्कणन दिखाना भी उचित नहीं ।

जम्बुद्वीप के नक्शे को और उसमें रहे हुए मेरु पर्वत को केवल कागज का टुकड़ा भी नहीं कहना, और न उसको जम्बुद्वीप या सुदर्शन पर्वत भ्रमभ्रकर दौड़ मचाना, चढ़ाई करना । इसके विपरीत चित्र आदि के साथ साक्षात् का सा व्यवहार कर अपनी अज्ञता जाहिर करना सुष्ठों का कार्य नहीं है ।

हम मूर्ति पूजक बंधुओं से ही पृच्छते हैं कि—जिस प्रकार आप मूर्ति को साक्षात् रूप समझ के वन्दन पूजन करते हैं, उसी प्रकार क्या, कागज या मिट्टी की बनी हुई रोटी तथा शिल्पकारों द्वारा बनी हुई पाषाण की वादाम, सारक आदि

वस्तुएँ का लेंगे ? नहीं, यह तो नहीं करेंगे। फिर तो आपकी मूर्ति पूजकता अधूरी ही रह गई ?

प्रिय बंधुओं ! सोचो, और हठ को छोड़कर सत्य स्वीकार करो इसीमें सच्चा हित है। अन्यथा पक्षपाताप करना पड़ेगा।



१८—पति का चित्र

प्रश्न—जिसका भाव वन्दनीय है उसकी स्थापना भी वन्दनीय है, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति की अनुपस्थिति में पति के चित्र को देख कर आनन्द मानती है, पति मिलन समान सुखानुभव करती है, उसी प्रकार प्रभु मूर्ति भी हृदय को आनन्दित कर देती है, अतएव वन्दनीय है, इसमें आपका क्या समाधान है ?

उत्तर—यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि—चित्र की मर्यादा देखने मात्र तक ही है इससे अधिक नहीं। इसी प्रकार पति मूर्ति भी देखने मात्र तक ही कार्य साधक है, इससे अधिक प्रेमालाप, या सहवास आदि सुख जो साक्षात् से मिल सकता है मूर्ति से नहीं। पतिव्रता स्त्री को पति की अनुपस्थिति में यदि चित्र से ही प्रेमालाप आदि करते देखते हो या चित्र से विधवाएं सधवापन का अनुभव करती हों तब तो मूर्ति पूजा भी माननीय हो सकती है, किन्तु ऐसा कहीं भी नहीं होता फिर मूर्ति ही साक्षात् की तरह पूजनीय कैसे हो सकती है ? अतएव जिसका भाव पूज्य उसकी स्था-

पना पूज्य मानने का सिद्धान्त भी प्रमाण एवं युक्ति से बाधित मिय होता है ।

यहां कितने ही अममिह बन्धु यह प्रश्न काँठने हैं कि—'जब श्री पतिचिन्म से मिलन सुख नहीं पा सकतीं तो केवल पति, पति इस प्रकार नामस्मरण करने से ही क्या सुख पा सकती है ? इससे तो नाम स्मरण भी अनुचित ठहरेगा ? ' इस विषय में मैं इन मोख भाइयों से कहता हूँ कि—जिस प्रकार चिन्म से लाभ नहीं उसी प्रकार भाव बाधों द्वारा नामोच्चारण करने से भी नहीं । हा भाव द्वारा जो पति की मौजूदगी के समय की स्थिति घटना, एवं परस्पर इच्छित सुखानुभव का स्मरण करने पर वह श्री उस समय अपने विधवापन का भूलकर पूर्व सधवापन की स्थिति का अनुभव करने लगती है, उस समय उसके सामन भूत कालीन सुखानुभव की घटनाएँ कड़ी हो जाती हैं, और अनन्त स्मरण कर वह अपने को बसी गयीं सुझरे अभ्याने में समरक कर शक्ति प्रस्तुता प्राप्त करलेती है । इसीलिये तो प्रवचारी को पूर्वक काम भोगों का स्मरण नहीं करने का आदेश देकर मनु ने बड़ी बाढ़ बनादी है । अतएव यह समझिये कि जो कुछ भी लाभ हानि है वह भाव निक्षेप से ही है स्थापना से नहीं । तिस पर भी जो चिन्म से राग भाव होने का कहकर मू० पू० स्थिर करना चाहते हो तो उसका समाधान कभीसर्वे (अगधे) प्रश्न क उत्तर में देखिये—

१६--स्त्री-चित्र और साधु

प्रश्न—जैसे स्त्री चित्र देखने से काम जागृत होता है और इसी से ऐसे चित्रमय मकान में साधु को उतरने की मनाई की गई है, वैसे प्रभु चित्र या मूर्ति से भी वैराग्य प्राप्त होता है, फिर आप मूर्ति पूजा क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—स्त्री चित्र से काम जागृत हो उसी प्रकार प्रभु मूर्ति से वैराग्य उत्पन्न होने का कहना यह भी असंगत है। क्योंकि—स्त्री चित्र से विकार उत्पन्न होना तो स्वतः सिद्ध और प्रत्यक्ष है।

सुन्दरी युवती का चित्र देखकर मोहित होने वाले तो प्रति शत ६६ निन्याणवे मिलेंगे, वैसे ही साक्षात् सुन्दरी को देखकर भी मोहित होने वाले बहुत से मिल जायँगे। किन्तु साक्षात् त्यागी वीतरागी प्रभु-या मुनि महात्मा को देखकर वैराग्य पाने वाले कितने मिलेंगे ? क्या प्रतिशत एक भी मिल सकेगा ?

संसार में जितनी राग भाव की प्रचुरता है उसके लक्षांश में भी वीतराग भाव नहीं है, और इसका खास कारण यह है कि—जीव अनादि काल से मोहनीय कर्म में रगा हुआ है, संसार

में ऐसे कितने महापुरुष हैं कि—जिन्होंने मोह को जीत लिया हो ?

आप एक निर्विकारी छोटे बच्चे को भी देखेंगे तो वह भी अपनी प्रिय वस्तु पर मोह रखेगा। अप्रिय से दूर रहेगा। और वही अनाथ बालक युवावस्था प्राप्त होते ही बिना किसी बाह्य शिक्षा के ही अपने मोहोदय के कारण काम भोजन बन आयेगा। हमन पहले ही प्रश्न के उत्तर में यह बता दिया था कि—जीतनी विभूतियां संसार में अंगुली पर गिनी जाय इतनी भी मुश्किल से मिलेंगी किन्तु इस कामदेव के भक्त ही सभी जगह वैद्य मनुष्य तिर्यक और नर्क गति में असक्य ही नहीं अमृत होने से इस विष्णुदेव का शासन अविच्छिन्न और सर्वत्र है। अतएव ली चित्र से काम आरुत होना सहज और सरल है। यह तो चित्र देखने के पूर्व भी हर समय मानव मानस में व्यक्त या अभ्यक्त रूप से रहा ही हुआ है चित्र दर्शन से अभ्यक्त रहा हुआ वह काम राध में वही हुई अग्नि की तरह उदय भाव में आ जाता है। इसको उदय भाव में लाने के लिये ता शशांग मात्र ही पर्याप्त है किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु धैर्य्य प्राप्त करने के लिए तो भारी प्रयत्न करने पर भी असम होना कठिन है। उदाहरण के लिए सुनिधिः—

(१) एक समर्थ विद्वान्, प्रतरवक्ता, त्यागी मुनिराज अपनी आज्ञास्वी और असहकारक बाणी द्वारा धैर्य्योत्पादक उपदेश कर भाताओं के हृदय में धैर्य्य भावनाओं का संचार कर रहे हैं भाता भी उपदेश के अचूक प्रभाव से धैर्य्य रंग में रंगकर अपना व्यास कमल बज्जा महोदय की ओर ही लगाए

बैठे हैं, किन्तु उसी समय कोई सुन्दरी युवति वस्त्राभूषण से सज्ज हो नूपुर का झङ्कार करती हुई उस व्याख्यान सभा के समीप हाँकर निकल जाय तब आप ही बताइये, कि उस युवती का उधर निकलना मात्र ही उन त्यागी महात्मा के घटे धो घन्टे तक के किये परिश्रम पर तत्काल पानी फिरादेगा या नहीं ? अधिक नहीं तो कुछ क्षण के लिए तो सुन्दरी श्रोतागण का ध्यान धागा प्रवाह से चलती हुई वैराग्यमय व्याख्यान धागा से हटा कर अपनी ओर खींच ही लेगी, और इस तरह श्रोताओं के हृदय से घड़ती हुई वैराग्य धारा को एक बार तो अवश्य खरिडत कर देगी । और धो डालेगी महात्मा के उपदेश जग्य पवित्र असर को । भले ही वह साक्षात् स्त्री नहीं होकर स्त्री वेष धारी बहुरूपिया ही क्यों न हो ?

(२) आप अपना ही उदाहरण लीजिए, आप मन्दिर में मूर्ति की पूजा कर रहे हैं, आप का मुह त्यागी की मूर्ति की ओर होकर प्रवेश द्वार की तरफ पीठ है । आप बाहर से आने वाले को नहीं देख सकते, किन्तु जब आपकी कर्णेन्द्रिय में दर्शनार्थ आई हुई स्त्री (भले ही वह सुन्दरी और युवती न हो) के चरणाभूषण की आवाज सुनाई देगी, तब आप शीघ्र ही अपने मन के साथ शरीर को भी वीतराग मूर्ति से मोड़कर एकबार आगत स्त्री की तरफ दृष्टिपात तो अवश्य करेंगे । उस समय आपके हृदय और शरीर को अपनी ओर रोक रखने में वह मूर्ति एक दम असफल सिद्ध होगी । कहिये, मोहराज की विजय में फिर भी कुछ सन्देह हो सकता है क्या ? और लीजिए,—

(३) एक कमरे में तीर्थंकरों महात्माओं, देश नेताओं के अनेक चित्रों के साथ एक शृङ्गार युक्त युवति का चित्र भी एक

कौमे में लगा हुआ है, वहाँ बालकों और युवकों को ही नहीं, किन्तु दश बीस हज़ार पुरुषों को बिनाबलोकन करने दिया आप आप देखेंगे कि—उन वर्गों में से किसी एक की भी यदि अब उस कौम में दूरी हुई युवती के चित्र पर पड़ेगी, तब सहसा सभी वर्गक महात्माओं के चित्रों से मुह मोड़ कर उसी सुन्दरी के चित्र की ओर ही बढ़ कर लूब रुधि से वस एक ही चित्र के सामने एक झुंड़ बन आयगा, इस प्रकार एक स्त्री के चित्र से आकर्षित होते हुए मनुष्यों को अनेकों महात्माओं के चित्रों की नहीं रोक सकेंगे बताइयेयह सब प्रभाव किसका ? कामदेव माहगाज का ही न ?

(४) आज कल कपड़े के धागों पर अनेक प्रकार के चित्र लग रहते हैं जिसमें अनेकों पर, महात्माजी, सरदार पटेल, पं० नरक लाकृष्णम्य तिलक, आदि दश नेताओं के चित्र रहते हैं और अनेकों पर होते हैं युवती कियों के चित्र में कोई लता से पुष्प तोड़ रही है तो कोई नीकर विहार कर रही है । कोई सरोवर में स्नान कर रही है, तो कोई गाला पर हाथ लगाये अन्य मनस्क भाव से बैठी है, इत्यादि शृङ्गारमय से लूब मने हुए कई प्रकार के चित्र रहते हैं । आप अपने छोटे बच्चे को साथ लेकर कपड़ा मर्यादित गर्व हों तब ध्यापारी आपका सामन अनेक प्रकार का बन्ना कर हर लगा वेगा । आप अपने पुत्र से बल पसन्द कर बाप आपका चिरजीव बल के गुण दोष को नहीं जानकर चित्र ही से आकर्षित होकर बल पसन्द करेगा यदि अच्छे और ठिकठ बल पर महात्माजी का चित्र होगा और आप उस मन का करेंगे तो आपका सुपुत्र बनेगा कि—इस पर तो एक बाबा का पराट्टई मुझे पसन्द नहीं कोई अच्छा सुन्दर पराट्ट वाला बल सीजिये । मने ही आप बल के गुण दोष को

जानकर हलंका वस्त्र नहीं लेंगे, किन्तु नौका विहारिणी के सुन्दर और आकर्षक चित्र को लेने की तो आप भी इच्छा करेंगे। आज प्रचार के विचार से वस्त्रो पर भद्दे और अश्लील चित्र भी आने लगे हैं और मैंने ऐसे कई मन चले मनुष्यों को देखे हैं जो मोहक चित्र के कारण ही एक दो आने अधिक देकर वस्त्र खरीद लेते थे।

इस प्रकार संसार में किसी भी समय कामराग की अपेक्षा वैराग्य अधिक सख्या के सख्यक मनुष्यों में नहीं रहा भूतकाल के किसी भी युग में (काल) ऐसा समय नहीं आया कि—जब मोहराग से विराग अधिक प्राणियों में रहा हो।

तीर्थंकर मूर्ति—यदि नियमित रूप से सभी के हृदय में वैराग्योत्पादक ही हो तो—आये दिन समाचार पत्रों में ऐसे समाचार प्रकाशित नहीं होते कि—“अमुक याम में अमुक मन्दिर की मूर्ति के आभूषण चोरी में चले गये, धातु की मूर्ति ही चोर ले उड़े अमुक जगह मूर्ति खण्डित कर डाली गई, आदि इन पर से सिद्ध हुआ कि वीतराग की मूर्ति से वैराग्य होना नियमित नहीं है। वैराग्य भाव तो दूर रहा पर उल्टा यह भी पाया जाता है कि चोरी और द्वेष जैसे दुष्ट भाव की भी मूर्ति उत्पादिका बन जाती है, क्योंकि—उसके बहुमूल्य आभूषण या स्वयं धातु मूर्ति आदि ही चोर को चोरी करने को प्रेरणा करते हैं, बहुमूल्यत्व के लोभ को पैदा कर मूर्ति चोरी करवाती है, और द्वेषी आततायी के मनमें मूर्ति तोड़ने के भाव उत्पन्न कर देती है। इससे तो मूर्ति निन्दनीय भावोत्पादिका भी ठहरी।

अतएव सरल बुद्धि से यही समझो कि स्त्री चित्र से रागो-

त्वय हान्य स्वाभाविक है । किन्तु मूर्ति से वैराग्यात्पन्न होना
 नियमित नहीं । क्योंकि-वैराग्य भाव मोह के उपोपशम
 से उत्पन्न होता है, और उपोपशम भाव वाले महात्मामों
 के लिए तो संसार के सभी दृश्य पदार्थ वैराग्यात्पादक हो
 सकते हैं, जैसे समुद्रपालजी को खोग, नमिराजपि का कटुय,
 मरतेम्बर का मुद्रिका आदि ऐसे साधोपशमिक भाव वास्तों के
 लिए मूर्ति की कोई काम आवश्यकता नहीं, और हमें भी बिना
 तो दूर रहा किन्तु साक्षात् देवांगना भी चलित नहीं कर सकती
 वे तो उससे भी वैराग्य ग्रहण कर सकते हैं और यह भी निश्चित
 नहीं कि-एक वस्तु से सभी के हृदय में एक ही प्रकार के भाव
 उत्पन्न होते हैं साक्षात् और प्रभु को हीर्लाजिय जो परम बीनरागी
 जिनेन्द्रिय त्यागी महात्मा थे, फिर भी उनका देवकर मुबतियाँ
 का काम बालकों को भय और भयानों को और समझने का
 द्वेष भाव उत्पन्न हुए और भयानों के हृदय में त्याग और
 भक्ति भाव का संसार होता था इससे यह सिद्ध हुआ कि—
 एक वस्तु सभी के हृदय में एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न करने
 में समर्थ नहीं है । जब उदय भाव वाले को साक्षात् प्रभु ही
 वैराग्यात्पन्न नहीं करासके तो मूर्ति किस गिनती में है ! दूसरा
 जिस प्रकार की चित्र देखने की मनाई है वैसे प्रभु चित्र देखने
 की आका तो नहीं भी नहीं है । इस तरह भिन्न हृदय कि की
 चित्र से काम आपूर्त होना जिस प्रकार सहज और सरल है,
 उस प्रकार प्रभु मूर्ति से वैराग्यात्पन्न होना सहज नहीं । किन्तु
 श्रुती के आधार यदि आपका यह मनहोना और बाधक
 िद्यान्त घोड़ी वेर के लिए मान भी लिया जाय तो भी कोई
 हानि नहीं है । क्योंकि—जिस प्रकार की चित्र देखने एक ही
 समित है कोई भी पुरुष काम से घेरित होकर चित्र से

मार्निगन घुम्यनाटि कुचेंछा महीं करता, उसी प्रकार प्रभु मूर्ति की मूर्ति पाने के लिये श्रमनं तक ही हो सकती है, ऐसी हालत में मूर्ति की सीमानांत वन्दना पूजनाटि रूप भक्ति क्यों की जाती है। ऐसा करना आप के उक्त उदाहरण से घट सकता है क्या? अतएव यह उदाहरण भी मूर्ति पूजा में विफल ही रहा।



१०--हुएडी से मूर्ति की साम्यता



प्रश्न—अब कोई धनी व्यापारी अपनी किसी विदेश स्थित दुकान के नाम किसी मनुष्य को हुएडी लिखदे तब वह मनुष्य उस हुएडी के जरिये लिखित रुपये प्राप्त कर सक्ता है वताईये वह स्थापना निरूप का प्रमाण नहीं तो क्या है ? हुएडी में जितने रुपये देने के लिखे हैं वह रुपयों की स्थापना नहीं है क्या ?

उत्तर—उक्त कथन स्थापना निरूप का बलघन कर गया है सर्व प्रथम वह ध्यान में रखना चाहिये कि स्थापना निरूप साक्षात् की मूर्ति बिना अथवा कोई पापाय करण आदि है जिसमें साक्षात् की स्थापना की गई हो आपने इस प्रश्न में साक्षात् को ही स्थापना का रूप दे डाला है क्योंकि हुएडी स्वयं मात्र निरूप में है हुएडी केमे वाले को उसमें लिखे हुए रुपये चुकाने पर ही प्राप्त हुई है और हुएडी अभी शिकरेगी कि इसका मात्र (बिनामे और शिकारने वाले साहूकार) सत्य हों।

यदि हुण्डी का भाव सत्य नहीं हो, लिखने शिकारने वाले अयोग्य हो तो उस हुण्डी का मूल्य ही क्या ? यों तो कोई राह चलता ले भग्गु भी लिख डालेगा, तो क्या वह भी सच्ची हुण्डी की तरह कार्य साधक हो सकेगी ?

हुण्डी की स्थापना हुण्डी की नकल याने प्रतिलिपि है, यदि कोई मनुष्य हुण्डी की नकल करके उससे रुपये प्राप्त करने जाय तो वह निराश होने के साथ ही विश्वासघातकता के अभियोग में कारागृह का अतिथि बन जाता है । अतएव यह सत्य समझिये कि हुण्डी स्वयं भाव निक्षेप में है किन्तु स्थापना में नहीं, स्थापना में तो हुण्डी की नकल है जो हुण्डी के बराबर कार्य साधक नहीं होती ।



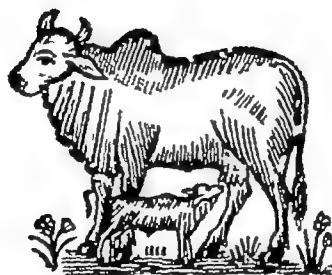
२१--नोट मूर्ति नहीं है ।

प्रश्न—नोट तो रुपये की स्थापना ही है वनसे जहाँ चाहे रुपये मिला सकते हैं इसमें आपका क्या समाधान है ?

उत्तर—जिस प्रकार इण्डी मास मिश्रण है वैसे ही मोटा भी मास मिश्रण में है स्थापना में नहीं । प्रथम आपको यह याद रखना चाहिये कि सिक्के एक प्रकार के ही नहीं होते, सोने चांदी ताँबा, कागज़ आदि कई प्रकार के होते हैं । वैसे रजया अठगनी खैरगनी तुलसी, एकगनी यह चांदी या मिश्रित धातु के सिक्के हैं वैसे ही ताँबे के पैसे, सोने की गिम्नी मोहर आदि कागज़ के नोट ये सब सिक्के हैं । प्रत्येक सिक्का अपने मास मिश्रण में है किसी की स्थापना नहीं । इसमें से किसी एक को मास और दूसरे को उसकी स्थापना कहना अव्ययता है ।

नोट की स्थापना मिश्रण नोट की प्रतिलिपि है वैसे ही रुपये का बिना रुपये की स्थापना है । रुपये, स्वर्ण मुद्रिका या नोट के अनेकों बिना रखने वाला कोई व्यक्ति निर्धन बन

वान नहीं बन सकता अधिक तो क्या एक पैसे की भी वस्तु नहीं पा सकता, किन्तु उलटा खोटे नोट चलाने या जाली सिक्का तैयार कर फैलाने के अपराध में दण्डित होता है।
 यस अब समझलो कि इसी तरह कल्पित स्थापना से भी इच्छित कार्य सफल नहीं हो सकते।



११-परोक्ष वन्दन

प्रश्न—अन्यत्र विद्यते हुए या स्वर्गस्थ गुरु की (उनकी अनुपस्थिति में) आहुति को छत्रप करवन्धन करते हो तब वह आहुति स्थापना—मूर्ति नहीं हुई क्या ? और इस प्रकार आप मूर्ति पूजक नहीं हुए क्या ?

उत्तर—इस प्रकार साक्षात् का स्मरण कर की हुई वन्दना स्तुति यह भाव निक्षेप में है स्थापना में नहीं। क्योंकि जब अनुपस्थित गुरु का स्मरण किया जाता है तब हमारे नेत्रों के सामने हमें गुरुदेव साक्षात् भाव निक्षेप पुरुष दिखाई देते हैं। यदि हम व्याख्यान देते हुए की कल्पना करें तो हमारे सामने बड़ी सौम्य और शान्त महात्मा की आहुति उपदेश देते हुए दिखाई देती है, हम अपने को भूलकर भूत कालीन छत्रप का अनुमय करने लगते हैं इस प्रकार यह परोक्ष वन्दन भाव निक्षेप में है स्थापना में नहीं। स्थापना में तो तब हो कि—जब हम उसकी मूर्ति शिव या सूर्य किसी धस्तु में स्थापना करके वन्दनादि करते हैं तब तो आप हमें मूर्तिपूजक कह सकते हैं किन्तु जब हम इस प्रकार की मूलता से दूर हैं तब आपका स्थापना वन्दन किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव आपको अपनी भया श्रद्धा करनी चाहिए।

१३-वन्दन आवश्यक और स्थापना

प्रश्न-षडावश्यक में तीसरा वन्दन नामका आवश्यक है, यह वन्दनावश्यक गुरु की अनुपस्थिति में विना "स्थापना" के किसके सम्मुख करते हो ? वहां तो स्थापना रखना ही चाहिए अन्यथा यह आवश्यक अपूर्ण ही रह जाता है। आप के पास इसका क्या उत्तर है ?

उत्तर-तीसरा आवश्यक गुरु वन्दन-गुरु का विनय और उनके प्रति विपरीताचरण रूप लगे हुए दोषों की आलोचना करने का है, यह जहां तक गुरु उपस्थित रहते हैं वहां तक उनके सम्मुख उनकी सेवा में किया जाता है, किन्तु अनुपस्थिति में गुरु का ध्यान कर उनके चरणों को लक्ष्य कर यह क्रिया की जाती है इसमें स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

तीसरे आवश्यक में बताई हुई ये बातें क्या स्थापना से पूछी जाती हैं कि-अहो क्षमा श्रमण ? आपके शरीर को मेरे वन्दन करने-चरण स्पर्शने-से कष्ट तो नहीं हुआ ? मुझे धार्मिक क्रिया करनेकी आज्ञा दीजिए, अहो पूज्य ? क्षमा करिये, आपकी सयम यात्रा और इन्द्रिय मन बाधारहित हैं ? आदि बातें क्या

स्थापना के साथ की जाती है। कदापि नहीं यह किया साक्षात् के साथ या उनकी अनुपस्थिति में उन्हीं के चरणों को लक्ष्य कर की जा सकती है और यह भावनिक्षेप में ही है। ऐसे परोक्ष बन्धन का इतिहास सूत्रों में भी मिलता है जहाँ स्थपना का नाम मात्र भी उल्लेख नहीं है, देखिये।

(१) शङ्केन्द्र ने अवधिष्ठान सं प्रभु को देखकर सिद्धासन छोड़ा और ७—८ कदम उत्तर दिशा में बढ़कर परोक्ष बन्धन किया किन्तु वहाँ भी स्थापना का उल्लेख नहीं है।

(२) आत्मस्वादि भाषकों ने पौष्य शास्त्र में प्रतिक्रमण स्वाध्याय ध्यान आदि क्रियाएँ की किन्तु वहाँ भी स्थापना को स्थान नहीं मिला।

(३) अनेक साधु साध्वी आदि के चरित्र वर्णन में कहीं भी उक्त स्थापना का नाम मात्र भी कथन नहीं है।

(४) सुदर्शन कोशिक, नम्बन मणिहार (मेंडक के भव में) ने भगवान् को लक्ष्य कर परोक्ष बन्धन किया है।

इसके सिवाय आत्मारामजी ने जैन तत्त्वार्थ पृष्ठ १०१ में लिखा है कि—

“जेकर प्रतिमा म मिछे तो पूर्व दिशा की तरफ मुख करके बतमान तीर्थंकरों का चैत्य बन्धन करें।”

यहाँ भी मूर्ति की अनुपस्थिति में स्थापना की आवश्यकता नहीं बताई।

इत्यादि पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु आदि की अनुपस्थिति में स्थापना रखने की आवश्यकता नहीं। यह नूतन पद्धति भी मूर्ति-पूजा का ही परिणाम है जो कि-अनात्मिक अर्थान् ध्येय है।

१४-द्रव्य-निक्षेप

प्रश्न-द्रव्य निक्षेप को तो आप अवन्दनीय नहीं कह सकते क्योंकि-“तीर्थंकरके जन्म समय शक्रेन्द्रादि जन्मोत्सव करते हैं, और निर्वाण पञ्चान् शव का अग्नि सस्कार करते हैं, उस समय तीर्थंकर द्रव्य निक्षेप में होते हैं और देवेन्द्र उनको वन्दन करते हैं ऐसी हालत में द्रव्य निक्षेप अवन्दनीय कैसे कहा जाता है ?

उत्तर-स्थापना की तरह द्रव्य निक्षेप भी वन्दनीय नहीं है, क्योंकि वह भाव शून्य है, जन्मोत्सव क्रिया शक्रेन्द्रादि अपने जीताचारानुसार करते हैं और इसी प्रकार अग्नि सस्कार भी जीताचार के साथ साथ यह क्रिया अत्यन्त आवश्यक है, इस जीताचार के कारण ही तो तीर्थंकर के मुह की अमुक ओर की अमुक दाढ़ा अमुक इन्द्र ही लेता है, यह सब क्रिया पद के अनुसार जीताचार की है। फिर उस समय की जाने वाली स्नान आदि क्रियाओं को धार्मिक क्रिया कैसे कह सकते हैं ? यदि इन क्रियाओं को धार्मिक क्रिया मानी जाय तो फिर भाव-निक्षेप (साक्षात्) के साथ ये क्रियाएँ क्यों नहीं की जाती हैं ?

वृत्तिय द्रव्य निक्षेप की वन्दनीय मानन में निम्न बाधक कारण उपस्थित होते हैं—

(अ) गृहस्थावस्था में रहें हुए तीर्थंकर प्रभु अपने भागवती परमानुसार गृहस्थ सम्बन्धी सभी कार्य जैसे स्नान मर्दन बिलपन, विद्याद, मीथुन आदि करते हैं, उस समय वे गुणपूजकों के लिए भाव निक्षेप की तरह वन्दनीय कैसा हो सकते हैं ?

(आ) जो वर्तमान में पैरागी होकर भविष्य में साधु होन वाला है जिसके लिए वीक्षा का मुहूर्त निश्चित हो चुका है वा चार घड़ी में ही महाप्रती हो आयगा विश्वास पात्र भी है वह द्रव्य निक्षेप से साधु अवश्य है, किन्तु वीक्षा के पूर्व भाव निक्षेप बाल साधु की तरह उसके लिये भी वन्दन नमस्कारादि क्रिया क्यों नहीं की जाती ? बाहन पर बढ़ाकर क्यों फिराया जाता है। भोजन का निर्मलत्व क्यों दिया जाता है। कारण यही कि वह अभी भाव निक्षेप से साधु नहीं है। गृहस्थ है।

(इ) द्रव्यलिंगी आचार्य छय ऐसे साधु का संघ बहिष्कार क्यों कर देता है ? क्या वह द्रव्य निक्षेप में नहीं है। अवश्य है किन्तु भाव शून्य है अतएव आदरणीय नहीं होता।

(ई) जो वर्तमान में युवराज है भविष्य में राजा या सम्राट होगा वे सम्राट की तरह राजावा पर हस्ताक्षर क्यों नहीं करते। राज्य का सम्पत्त आगीरवार, अधिकारी बर्ग आदि राजा या सम्राट लीके उनके भट नज़र आदि क्यों नहीं करते। वर्तमान युवराज का अधिकार सम्पन्न राजा क्यों नहीं माना जाता। तो यही उत्तर होगा कि उसमें भावनिक्षेप नहीं है। हाँ युवराज का भावनिक्षेप उसमें है, इससे इस पर के योग्य मान पा सकेगा किन्तु अधिक न—

(३) भूतपूर्व पर्वीसीनियन सम्राट रासतफारी और अफगान सम्राट अमानुल्लाखान पदच्युत होने से द्रव्य निक्षेप में सम्राट अवश्य हैं। उक्त पदच्युत सम्राट वर्तमान में सम्राट तरीके कार्य साधक हो सकने हैं क्या ? जो थोड़े वर्ष पूर्व अपने साम्राज्य के अन्दर अपनी अखण्ड आज्ञा चलाते थे। जिनके सकेत मात्र में अनेकों कं धन जन का हित अहित रहा हुआ था, धनवान को निर्धन, निर्धन को अमीर वन्दी को मुक्त मुक्त को वन्दी, कर देते थे, रोते को हसाना और हसते को रुलाना प्रायः उनके अधिकार में था, लाखों करोड़ों के जो भाग्य विधाता और शासक कहाते थे किन्तु वे ही मनुष्य थोड़े ही दिन में (भावनिक्षेप के निकल जाने पर) केवल पूर्व स्मृति के भूत कालीन भाव निक्षेप के भाजन द्रव्य निक्षेप रह जाते हैं तब उन्हें कोई पूछ ता ही नहीं, आज उनकी आज्ञा को साधारण मनुष्य भी चाहे तो ठुकरा सकता है, आज वे सम्राट नहीं किन्तु किसी सम्राट की प्रजा के समान रह गये हैं। इसी प्रकार भूत-पूर्व इन्दौर तथा देवास के महाराजा भी वर्तमान में पदच्युत होने से मात्र द्रव्यनिक्षेप ही रह गये हैं। इस तरह अनुभव से भी द्रव्य निक्षेप वन्द्य पूजनीय नहीं हो सकता।

इतने प्रबल उदाहरणों से स्पष्ट सिद्ध होगया कि द्रव्य निक्षेप भी नाम और स्थापना की तरह अवन्दनीय है।



२५-‘चतुर्विंशतिस्तव और द्रव्यानिक्षेप



प्रश्न—प्रथम तीर्थंकर के समय उनके शासनाभित व चतुर्विंश संघ प्रतिक्रमण के द्वितीय आवश्यक में ‘चतुर्विंशति स्तव’ कहता था उस समय अन्य तीर्थंकर चारोंगति में अमल करते थे इससे सिद्ध हुआ कि—द्रव्य निक्षेप वद नीध पूजनीय है क्योंकि—प्रथम तीर्थंकर के समय मविष्य के २३ तीर्थंकर द्रव्य निक्षेप में थे। अब बताइये इसमें तो आप भी सहमत होंगे ?

उत्तर—यह तर्क भी निष्पाद्य है। प्रथम जिनेश्वर का शासनाभित संघ आज की तरह चतुर्विंशतिस्तव कहता हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है, खासगी मनःकल्पित पुक्ति लगाना योग्य नहीं है। प्रथम तीर्थंकर का संघ तो क्या, पर किसी भी तीर्थंकर के संघ में द्वितीयावश्यक में उतने ही तीर्थंकरों की स्तुति की जाती जिसमें कि हो सके हो। मविष्य में होने वाले तीर्थंकरों की स्तुति नहीं की जाती।

द्वितीयावश्यक का नाम भी सूत्र में प्रारंभ से चतुर्विंशति स्तव नहीं है, यह नाम तो अन्तिम (२४वें) तीर्थंकर महा

वीर प्रभु के शासन में ही होना प्रतीत होता है । अनुयोग द्वार सूत्र में पडावश्यक के नामों का पृथक् २ उल्लेख किया गया है, वहां दूसरे आवश्यक का नाम चतुर्विंशतिस्तव नहीं बताकर 'उत्कीर्तन' (उक्कित्तण) कहा है, अतएव चतुर्विंशति-स्तव नाम वर्तमान २४वें तीर्थकर के शासन में होना सिद्ध होता है ।

चतुर्विंशतिस्तव का पाठ भी भूतकाल में बीते हुए तीर्थ-करों की स्तुति को ही स्थान देता है, इसके किसी भी शब्द से भविष्यकाल में होने वाले की स्तुति सिद्ध नहीं होती भूतकालीन जिनेश्वरों की स्तुति रूप निम्न वाक्यों पर ध्यान दीजिये:—

“विह्व-रयमला, पहिणजरमरणा, चउविसंपि जिण-वरा तित्थयरा मेवसियंतु कित्तिय, वन्दिय, महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा. आरुग बोहिलाभं, समाहिवर-मुत्तमं-दितु, चन्देसु निम्मलयग, आइच्चेसु अहियं पयासयरा, सागरवरगम्भीरा, 'सिद्धा' सिद्धि मम दिसंतु,

अर्थात्—चौबीसों ही जिनेश्वरों ने कर्म रज न्यायमल को दूर कर दिया है, जन्म मरण का क्षय किया है, अहो तीर्थकरों मुझ पर प्रसन्न होवो । मैं आपकी स्तुति चन्दना और पूजा (भावद्वारा) करता हूं । आप लोक में उत्तम हैं । अहो सिद्धों ! मुझे आरोग्य और बोधि लाभ प्रदान करो । तथा प्रधान ऐसी समाधि दो । आप चन्द्र से अधिक निर्मल और सूर्य से

अधिक प्रकाशमान हैं, सागर से भी अधिक गम्भीर हैं।
अहो सिद्ध प्रभो ! भुम्हे सिद्धि प्रदान करो ।”

यह स्तुति ही भाव प्रधान जीयन को बता रही है।

अब हमारे प्रेमी पाठक अरा शास्त्र विक्त से विचार करें और बतावें कि—चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का कौनसा शब्द चतुर्गणि में अमण करने वाले द्रव्य तीर्थकरों को पदना दि करना बतलाता है ? यह पाठ तो स्पष्ट ‘सिद्ध’ विशेषण लगाकर यह सिद्ध कर रहा है कि—जिन तीर्थकरों की स्तुति की जा रही है वे सिद्ध हो चुके हैं जिन्होंने जन्म मरण का अन्त कर दिया है, जिनकी आत्मा राज मह रहित अर्थात् विमुक्त है आदि वाक्य ग्रन्थकार की कुपुक्ति का लय छेदन कर रहे हैं अतएव यह स्पष्ट हो चुका कि—द्रव्य विशेष अवनीय पूजनीय नहीं है। और अब द्रव्य विशेष (जोकि—भाव का अधिकारी किसी समय था या होगा) भी वंदनीय पूजनीय नहीं तो मनस्कल्पित स्थापना—मूर्ति अवंदनीय हो इसमें कहना ही क्या है ? यहां तो शंका को स्थान ही नहीं होना चाहिये।



३३—मरीचि वंदन

प्रश्न—त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र में लिखा है कि प्रथम जिनेश्वर ने जब यह कहा कि—“मरीचि इसी अवसर्पिणी काल में अंतिम तीर्थंकर होगा” यह सुनकर भरतेश्वर ने उसके पास जाकर उसे वन्दना नमस्कार किया, इससे तो आपको भी द्रव्य निक्षेप वदनीय स्वीकार करना पड़ेगा, क्या इसमें भी कोई बाधा है ?

उत्तर—हां, यह मरीचि वन्दन का कथन भी आगमप्रमाण रहित और अन्य प्रमाणों से बाधित होने से अमान्य है ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि—यह “त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र” जो कि श्री हेमचन्द्राचार्य का बनाया हुआ है आगम की तरह मान्य कैसे हो सकता है ? जबकि इसके रचयिता में सिवाय मति, श्रुति के कोई भी विशिष्ट ज्ञान नहीं था तो उन्होंने तीसरे आरे की बात पंचम आरे के एक हजार से भी अधिक वर्ष बीत जाने पर कैसे जानली ? यहां हम विषयान्तर के भय से अधिक नहीं लिखकर “त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र” की समालोचना एक स्वतंत्र ग्रंथ के लिए छोड़

कर इतना ही कहना चाहते हैं कि—यसके पंथों के प्रमाण यहाँ कुछ भी कार्य साधक नहीं हो सकते, जो पंथ उभय मान्य हो वही प्रमाण में बख्ते आने चाहिये अन्यथा प्रमाणदाता का विफल प्रमोदय हो ना पड़ता है ।

अनुकृतवर्णन में लिखा कि बारहवें तीर्थकर प्रभु ने श्री कृष्ण वासुदेव को आगामी चौबीसी में बारहवें तीर्थकर होने का भविष्य सुनाया यह सुनकर श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए जंभा पर कर रफोड़ का निहनाद किया । इससे अनुमान होता है कि उस समय समस्त सुरक्ष स्थित चतुर्विध रूप ही ठीक पर कई धोखेन वर के यह आवाज पहुँची होगी और समय सुरक्ष में तो सभी को इसका कारण मालूम हो गया कि—यह ध्वनि श्रीकृष्ण भविष्य कथन सुनकर प्रसन्नता से की है । अब अन्तः कीर प्रभु के राजा का भी यह आन गये कि—श्रीकृष्ण भविष्य में प्रभु की तरह ही तीर्थकर होंगे । अब सभी भक्तों का और गृहस्थों का चाहिये था कि—ये भी आपके भक्तभार की तरह कृष्ण को वादना नमस्कार करते ? क्योंकि ये भी तो मर्गादि की तरह द्रव्य तीर्थकर थे ? किन्तु अब हम अस्तित्व दर्शक देखते हैं, अब वरु में निहनाद भावि का तो घरन है, पर वरुमादि के लिए तो बिलकुल मौन ही पाया जाता है । यहाँ हम अशाग रुज के नमस्कारान में अधिक के भविष्य कथन पर है । अब तीर्थकर मापित स्त्रों में यह बात प्रकरण में भी नहीं मिलती तो अन्य पंथों में कैसे और कहाँ से आई ? और विपद्ग्रस्ताका पुत्रपत्नी के रक्षयिता ने किस दिव्य प्राण द्वारा यह रूप आना ? किसी भी बात को ब्रह्मणा के अर्पित पित्रता पूर्वक रक्षकालने से ही वह पतिदासिक नहीं हो सकती । इस प्रमाण के साधक कुछ उदाहरण भी दिये जाते हैं ।

(क) कोई वुनकर कपड़ा वुनने को यदि सूत लाया है उस सूत से वह कपड़ा बनावेगा, वर्तमान में वह कपड़ा नहीं पर सूत ही है। फिर भी वह वुनकर यदि सूत को ही कपड़े के मूल्य में देचना चाहे या खरीदने वाले से उस सूत को देकर वस्त्र का मूल्य लेना चाहे तो उसे निराश होना पड़ता है। क्यों कि वह वर्तमान में सूत है उससे वस्त्र कं दाम नहीं मिल सकते। इसी प्रकार भविष्य में उत्पन्न होने वाले गुण को लक्ष्य कर वर्तमान में उन उत्तम गुणों से रहित व्यक्ति को वैसा मान नहीं दिया जा सकता।

(ख) कोई शिल्प—कार मूर्ति बनाने के लिए एक पाषाण खण्ड लाया है उस पाषाण की वह मूर्ति बनावेगा उस पर काम भी करने लग गया है किन्तु अभी तक मूर्ति पूर्ण रूप से बनी नहीं है, इतने में ही कोई मूर्ति-पूजक आकर उससे मूर्ति माँगे, तब वह शिल्पकार यदि कहदे कि—यह अपूर्ण मूर्ति ही ले लो तो क्या वह मूर्ति पूजक उस अपूर्ण मूर्ति को पूरे दाम देकर खरीदेगा ? नहीं यद्यपि वह भविष्य में पूर्ण रूप से ठीक बन जायगी पर वर्तमान में अपूर्ण है, इस लिए व्यवहार में भी उसका पूरा मूल्य नहीं मिल सकता, तो धर्म कार्य में द्रव्य निक्षेप वन्दनीय पूजनीय कैसे हो सकता है ?

(ग) एक गाय की छोटी सी बछिया है, जो भविष्य में गाय बन कर दूध देगी, किन्तु हमारे मूर्ति पूजक प्रश्नकार के मतानुसार उस बछिया से ही जो कोई दूध प्राप्त करने की इच्छा से क्रिया करे, तो उस जैसा मूर्ख शिरोमणि सत्सार में और कौन हो सकता है। जब छोटी बछिया यद्यपि गाय के द्रव्य निक्षेप में है किन्तु वर्तमान में दूध देने रूप भाव निक्षेप की कार्य साधक नहीं होती तब गुण शून्य द्रव्य निक्षेप वन्दनीय पूजनीय किस प्रकार माना जा सकता है।

(ब) २४ वें प्रश्नोत्तर के पाँचों उदाहरण भी यहाँ प्रकरण संगत हैं ।

ऐसे प्रत्येक उदाहरण दिये जा सकते हैं, कुछ जगह इन उदाहरणों पर श्रद्धा जित से विचार करेगी तो मायूम होगा कि—प्रत्येक सिद्धेय को मात्र सत्य मानना वास्तव में बुद्धिमत्ता नहीं है ।

इस तरह सत्य को समझ कर पाठक अपना कल्याण साधे यही निवेदन है ।



१७—सिद्ध हुए तीर्थंकर और द्रव्य निक्षेप



प्रश्न—चौबीस तीर्थंकर वर्तमान में सिद्ध हो चुके हैं उनकी आत्मा अब अरिहंत या तीर्थंकर के द्रव्य निक्षेप में ही है उन सिद्धों को अब अरिहंत या तीर्थंकर मानकर वन्दना स्तुति करते हो, क्या यह द्रव्य निक्षेप का वन्दन नहीं है?

उत्तर—उक्त कथन के समाधान में यह समझना चाहिये कि—

जो तीर्थंकर या अरिहंत सिद्ध हो चुके हैं उनकी अभी वन्दना या स्तुति करते हैं वह द्रव्य निक्षेप में नहीं है, क्योंकि जो आत्माश्रित भाव-गुण अर्हतावस्था में थे वे सिद्धावस्था में भी कायम हैं, सिद्धावस्था में तो और भी गुणवृद्धि ही हुई है। फिर उन्हें सामान्य द्रव्य निक्षेप से कैसे कह सकते हैं? गुण पूजकों के लिये तो यह प्रश्न ही अनुचित है।

सिद्धावस्था की आत्मा अरिहंत दशा का मूल द्रव्य होकर भी द्रव्य निक्षेप से विशेषता रखता है, कारण यहां गुणों से सम्बन्ध है जिस प्रकार अणुवत वाला आवक जब संहात

घारी साधु हो जाता है तब वह भावक का द्रव्य निशेष फिर भी गुण वृद्धि की अपेक्षा बन्धनीय है, किन्तु वही । जो भावक से साधु बना या कर्मों के अंग से संयम से पतित हो जाय तो भावक पक्ष से भी बन्धनीय नहीं रहने के कारण, समन का स्थान है गुण और उन मृत रिक्त रूप गुणों की स्थूलता याज्ञान से वह आत्मा नीच नहीं रहा इससे विपरीत जहाँ गुण वृद्धि होती है मृत और वर्तमान दोनों काल में बन्धनीय ही होता है ।

इस विषय में यदि आप सांसारिक उदाहरण भी दे चाहें तो बहुत मिल सकते हैं अधिक नहीं केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है देखिये—

वर्तमान में जितने पञ्चग्युत राजा और सम्राट हैं वे यह प्रायः युवराज रहे होंगे और युवराज के बाद राजा या सम्राट वने जो राजा युवराज अवस्था में उन्हें मान देती वही राजा होने पर भी मान देती रही बल्कि पहले से अधिक किन्तु काम बक के केर से वे राज्यग्युत हो गये युवराज अवस्था वाला बाद में उनके मान में नहीं । काम उनकी क्या हालत है यह तो प्रायः सभी जानते हैं ।

यहाँ निर्विवाद सिद्ध हुआ कि मान पूजा गुणों की अपेक्षा रहती है इस लिये गुण वृद्धि रूप सिद्धावस्था लेकर गुण रहित द्रव्य निशेष के साथ उसकी तुलना । सामान्य द्रव्य मिश्रण को बन्धनीय ठहराना किसी में योग्य नहीं है ।

१८—साधु के शव का बहुमान

प्रश्न—मृतक साधु के शव की अंतिमक्रिया आप बहुमान पूर्वक करते हैं उसमें धन भी खूब खर्च करते हैं तो भी क्या यह द्रव्य निक्षेप को वन्दन नहीं हुआ?

उत्तर—साधु के शव की अंतिमक्रिया जो हम करते हैं यह धर्म समझ कर नहीं किन्तु अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं, शव की अंतिमक्रिया करना अनिवार्य है, नहीं करने से कई प्रकार के अनर्थ होने की सम्भावना है। अतएव यह क्रिया आवश्यक और अनिवार्य होने से की जाती है इसमें धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके सिवाय जो बहुमान किया जाता है वह शव का नहीं पर शव होने के पूर्व शरीर में रहने वाले संयमी गुरु की आत्मा का है, और यह क्रिया केवल व्यवहारिक कर्तव्य का पालन करने के लिये ही होती है। संसार में भी जो व्यक्ति अधिक जन प्रिय, पूज्य या मान्य होगा, बहुतों का नेता होगा उसके मरने पर उसके शव की अंतिमक्रिया भी

बहुमान और पुष्कल द्रव्य व्यय कर की आसगी उसमें जो बहुमान होगा, वह उस शय का ही नहीं किन्तु उस, शय का कुछ समय पूर्व जो एक उच्च आत्मा से सम्बन्ध रहा था, उस आत्मा के ही बहुमान के कारण शरीर से उसके निकल आने पर भी शय का मान होता है, वस् इसी प्रकार हम भी हमारे गुरु के मृत शरीर की अतिमक्रिया करते हैं। और यही मान्यता रखते हैं कि यह क्रिया व्यावहारिक है किन्तु धार्मिक नहीं। अतएव व्यावहारिक और आवश्यक क्रिया का धार्मिक विषय में जोड़ देना अनुचित है, इस प्रकार द्रव्य निक्षेप बन्धनीय नहीं हो सकता।



१६-क्या जिन मूर्ति जिन समान है ?



प्रश्न— जिन प्रतिमा जिन समान है ऐसा सूत्र में कहा है, फिर आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—उक्त कथन भी सत्य से परे है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जब मूर्ति पूजा करने की ही प्रभु आक्षा नहीं तब यह प्रश्न ही कैसे उपस्थित हो सकता है ? वास्तव में यह कथन हमारे मूर्ति-पूजक बन्धुओं ने अतिशयोक्ति भरा ही किया है। इसी प्रकार श्री विजयानन्द सूरिजी ने भी 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' में इस विषय को सिद्ध करने के लिये व्यर्थ प्रयास किया है, वे लिखते हैं कि साक्षात् प्रभु को नमस्कार करते समय 'देवयं चेद्यं पज्जुवासामि' कहते हैं, जिसका अर्थ यह होता है कि—

देव सम्बन्धी चैत्य सो जिन प्रतिमा तिसकी तरह सेवा
 १ कइं, इस प्रकार मनमाना अर्थ किया है, श्रीमान् विजयानन्द जी ने तो सम्यक्त्व शल्योद्धार चतुर्थावृत्ति पृ० १०३ में यहां तक लिख डाला है कि—'भाषतीर्थंकर से मीजिनप्रतिमा

की अधिकता है क्या अब भी अमर्षमें कुछ कसर है ? किन्तु इसका अर्थ जो प्रकरण संगत वह मूल पाठ और उसका शुद्ध अर्थ निम्न प्रकार से है देखिये—

कल्त्राणां, मंगलं, वैश्यं, वैश्यं, पञ्चुवासाणि

अर्थ—आप कल्याणकर्ता हैं, मंगल रूप हैं धर्मदेव हैं, कामधेय हैं, मैं आप की सेवा करता हूँ ।

यह अर्थ शुद्ध और प्रकरण संगत है, स्वर्ग राज प्रस्थीय के टीकाकार आचार्य भी उक्त पाठ की टीका इस प्रकार करते हैं देखिये—क० कल्याण करित्वात् म० दुरितोपशम कारित्वात् वे० वैश्वीक्याधि पतित्वात्

चैत्यं सुप्रसन्न मनोऽस्तुत्यात्

यहाँ स्वर्ग प्रभु को बम्बसा करने के विषय में उक्त शब्द का टीकाकार ने सुप्रसन्न मन के हेतु कहकर स्वर्ग सर्वत्र प्रभु को ही इसका स्वामी माना है और प्रभु अमर्षवादी है अतः हमारा उक्त अर्थ ही सिद्ध हुआ । इसका प्रतिमा अर्थ इनके माननीय टीकाकार के मन्तव्य से भी बाधित हुआ । अतएव इस युक्ति से जिन प्रतिमा को जिन समाप्त कहना व्यर्थ ही ठहरता है ।

अब कल्त्राणां मंगलं, दो शब्दों का अर्थ तो आपसी कल्याणकारी, मंगलकारी करते हैं, तब वैश्यं वैश्यं इन दो शब्दों का वैश्वता सम्बन्धी चैत्य जिन प्रतिमा की तरह ऐसा अघटित अर्थ किस प्रकार करते हैं ? वैश्यं वैश्यं, भी कल्त्राणां मंगल की तरह पूयक वो शब्द है वहाँ दोनों का स्व

तन्त्र भिन्न अर्थ करके यहां दोनों को भ्रमन्वित करके वाद में उपमावाची वाक्य की तरह लगा देना क्या मत मोह नहीं है ? फिर भी अर्थ तो असंगत ही रहा, टीकाकार के मत से भी वाधित ठहरा । अतएव उक्त मनमाने अर्थ से प्रश्न को सिद्ध करने की चेष्टा विफल ही है । मूर्ति पूजक समाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं० वेङ्गदासजी को भी चेत्य शब्द का जिन मूर्ति अर्थ मान्य नहीं, इस अर्थ को पंडितजी नूतन अर्थ कहते हैं (देखो जन साहित्य मां विकार यवात्री ययनीहानि)

इसके सिवाय जिन-मूर्ति को जिन समान मानने वाले बन्धु राजप्रश्नीय की साक्षी देते हुए कहते हैं कि यहा जिन प्रतिमा को जिन समान कहा है किन्तु यह समझना उनका भूल से भरा हुआ है, राजप्रश्नीय में केवल शब्दालंकार है, किन्तु उसका यह आशय नहीं कि मूर्ति साक्षात् के समान है ।

एक साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी यह जानता है कि पत्थर निर्मित गाय साक्षात् गाय की बराबरी नहीं कर सकती, साक्षात् गाय से दूध मिलता है, और पत्थर की गाय से बस पत्थर ही । जब साक्षात् फूलों से मोहक सुगन्ध मिलती है तब कागज के बनाये हुए फूलों से कुछ भी नहीं । साक्षात् सिंह से गजराज भी डरता है किन्तु पत्थर के बनावटी सिंह से भेड़, बकरी भी नहीं डरती । असली रोटी को खाकर सभी छुछा शान्त करते हैं किन्तु चित्रनिर्मित कागज की रोटी को खाने का प्रयत्न तो मूर्ख और बालक भी नहीं करते । इस प्रकार असल नकल के भेद और उसमें रहा हुआ महान् अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है, असल की बराबरी नकल कभी नहीं कर सकती, फिर धुरंधर विद्वान् और शास्त्रज्ञ कहे जाने

पासे मूर्ति को अनंत घामी, अनंत गुणी ऐसे तीर्थंकर प्रभु के समान ही माने और पंढना पूजादि करे यह किमती हास्य जनक पद्धति है ।

अब कि—साक्षात् हाथी का मूल्य हजारों रुपया है, उसका वैयक्तिक कार्य भी साधारण मनुष्य नहीं ठठा सकता राजा महाराजा ही हाथी रखते हैं हाथी रखने में बहुत बड़ी आर्थिक शक्ति की आवश्यकता है इससे बस्टा मूर्ति की ओर देखिये एक कुम्हार मिट्टी के हजारों हाथी बनाता है और वे हाथी ऐसे ० में बाजार में बालकों के खेलने के लिए बिकते हैं । इस पर यदि विचार किया जाय तो असल ब नकल में रही हुई मिथता स्पष्ट दिखाई देती है । अब साक्षात् एक हाथी का ही मूल्य हजारों रुपया है तब हाथी की एक हजार मूर्तियों का मूल्य हजार रुपये भी नहीं । असल हाथी के रखने वाले राजा महाराजा होते हैं तब मिट्टी के हजारों हाथी रखने वाले कुम्हार को मर पड़ बच और पूरे वस्त्र भी नहीं यदि ऐसे हजारों हाथी वाला कुम्हार राजा महा राजा की बराबरी करने लगे और नवैयुक्त कहे कि— राजा के पास तो एक ही हाथी है किन्तु मेरे पास ऐसे हजारों हाथी हैं इसलिये मैं तो राजाधिराज (सम्राट) से भी अधिक हूँ ऐसी चूर्त में वह कुम्हार अपने मुँह मत्ते ही मिठाई मिट्टू बनजाय किन्तु सब साधारण की दृष्टि में तो वह सिर्फ 'शेखधिराजी' ही है ।

बस यही हास्य 'जिन प्रतिमा जिन सारथी' कहने वालों की है यद्यपि मूर्ति का साक्षात् के सद्य मानने का कथन

असत्य ही है, तथापि थोड़े समय के लिए केवल दलील के खातिर इनका यह कथन मान भी लिया जाय तो भी उनकी पूजा पद्धति व्यर्थ ही ठहरती है, क्योंकि—प्रभु ने दीक्षितावस्था के बाद कभी भी स्नान नहीं किया, न फूल मालाएं धारण कीं, न छत्र मुकुट कुण्डलादि आभूषण पहने, न धूप दीप आदि का सेवन किया, ऐसे एकान्त त्यागी भगवान के समान ही यदि उनकी मूर्ति मानी जाय तो—उस मूर्ति को सचित्त जल से स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, फूलों के हार पहनाने, फूलों को काट कर उनसे अंगियां बनाने, केले के पेड़ों को काटकर कदली घर आदि बनाकर सजाई करने, धूप, दीप द्वारा अगणित ब्रस स्थावरों की हत्या करने, केशर चन्दन आदि से विलेपन करने आदि की आवश्यकता ही क्या है ? क्या दीक्षितावस्था—(धर्मावतार अवस्था) में कभी प्रभु ने इन वस्तुओं का उपभोग किया था ? यदि नहीं किया तो अब यह प्रभु विरोधिनी भक्ति क्यों की जाती है ? जिन दयालु प्रभु ने पानी पुष्पादि के जीवों का स्पर्श ही नहीं किया और अपने श्रमणवंशजों को भी सचित्त पानी, पुष्प, फल, अग्नि आदि के स्पर्श करने की मनाई की, उन्हीं प्रभु पर उनकी निषेध की हुई सचित्त वस्तुओं का प्राण हरण कर चढ़ाना क्या यह भी भक्ति है ? नहीं, ऐसी क्रिया को भक्ति तो किसी भी प्रकार नहीं कह सकते, वास्तव में यह भक्ति नहीं किन्तु प्रभु का 'महान् अपमान है' प्रभु के सिद्धान्तों का प्रभु पूजा के लिए ही प्रभु पूजक दिन दहाड़े संग करे, यह तो मित्र होकर शत्रुपन के कार्य करने के बराबर है ।

जिन परम श्याम प्रभु ने धर्म के लिए की जाने वाली व्यर्थ हिंसा को अनार्य कम कहा अद्वित कारिणी पताई उन्हीं के मङ्गल उन्हीं प्रभु के नाम पर निरपराध मूक प्राणिनों का अकारण ही माथ कर धम माने, यह किठने आश्चर्य की बात है ?

जिस त्यागी धर्म के लिए अस्त्र-त्रियोग से हिंसा करने कराने अनुशोचने का निवेदन किया गया जिन त्यागी धर्मियों ने स्वय ईश्वर और गुरु माँही से किसी भी करण-योग से हिंसा नहीं करने की स्पष्ट प्रतिज्ञा ली वही त्यागी धर्म पक्ष व्यामोह में पड़कर अपने कसब-अग्नी प्रतिज्ञा को ठोकर मारकर प्रभु की पूजा के नाम पर अगणित निरपराध जीवों की हिंसा करने का गलाफाक २ कर उपदेश आदेश दे यह किठनी लज्जा की बात है ?

क्या जिन मूर्ति को साक्षात् जिन समान मानने वाले अपनी प्रभु बिगोधिनी पूजा के जरिये होते हुए प्रभु के अपमान को समझ कर सत्यपथ गामी बनेंगे ?

वास्तव में तो मूर्ति साक्षात् के समान हो ही नहीं सकती जबकि मुक्तकौशल भी जीवित की स्थान पूर्ति नहीं कर सकता इसीलिए अज्ञाकर या पृथ्वी में गाड़ कर मद्य कर दिया जाता है तब पत्थर या काष्ठ की मूर्ति अथवा विग्रह क्या साक्षात् की समानता करेंगे ? अतएव सरल बुद्धि से विचार कर मान्यता शुद्ध करनी चाहिए !

३०—समवसरण और मूर्ति

प्रश्न—तीर्थकर समवसरण में बैठते हैं तब अन्य दिशाओं में उनकी तीन मूर्तियों में देवता रखते हैं उन मूर्तियों को लोग वन्दना नमस्कार करते हैं, इस हेतु से तो मूर्ति पूजा सिद्ध हुई?

उत्तर—उक्त कथन भी आगम प्रमाण रहित और मिथ्या है। भगवान समवसरण में चतुर्मुख दिखाई देते हैं ऐसा जो कहा जाता है उसका खास कारण तो भामण्डल का प्रकाश ही पाया जाना है। हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र के नववें प्रकाश के प्रथम श्लोक में स्वयं प्रभु को ही 'चतुर्मुखस्य' लिख कर चार मुंह वाले कहे हैं किन्तु चार मूर्तियाँ नहीं कही।

आज भी कितने ही मन्दिरों में एक मूर्ति के आस पास ऐसे ढंग से शीशे (काच) रखे हुए देखे जाते हैं कि जिससे एक ही मूर्ति पृथक् २ चार पांच की संख्या में दिखाई दे। कई जगह महलों में ऐसे कमरे देखे गये कि जिसमें जाने से

एक ही मनुष्य अपने ही समान चार पांच रूप और भी देख कर आश्चर्य करने लग जाता है यह सब वर्णों के कारण ऐसा दिखाई देता है अब मनुष्य इतने वर्णों में ही ऐसी विभिन्न दिखाई देती है तब देवदत्त समथसरण के वधोत् में और प्रमामयडल के प्रकाश तथा तीसरा रत्न मनु का ही वर्णोपमान सूर्य के समान तेजस्वी मुखामक, इस प्रकार तीन प्रकार के वधोत् से मनु चतुर्मुख दिखाई दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

त्रिशिष्टशसाका पुराण चरित्र' में और तीन रामायण में लिखा है कि रामच अपने हाथ छि मो मणियों की प्रमा के कारण दशमन (दश मुंह वाला) दिखाई देता था । रामच के मुख का प्रतिबिम्ब हाथ की मण मणियों में पड़ने से देखने वालों को रामच दश मुख का दिखाई देता था । इसी प्रकार यदि प्रमामयडलादि के प्रकाश के कारण यदि मनु चतुर्मुख दिखाई दे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं । किन्तु तीन दिशाओं में मूर्तियों रखने का कथन तो मूर्ति-पूजक महानुमाओं का प्रमाण शून्य और मनाकल्पित ही पाया जाता है ।



३१-क्या पुष्पों से पूजा पुष्पों की दया है ?

प्रश्न—पुष्पों से पूजा करना पुष्पों की दया करना है। क्योंकि यदि उन पुष्पों को वेश्या या अन्य भोगी मनुष्य ले जाते तो उनके हार गजरे आदि बनाते, शैय्या सजा कर ऊपर सोते, सुंघते तथा इत्र तेल आदि बनाने वाले सड़ा गला कर भट्टी पर चढ़ाते, इस प्रकार पुष्पों की दुर्दशा होती। इस लिये उक्त दुर्दशा से बचाकर प्रभु की पूजा में लगाना उत्तम है, इससे वे जीव सार्थक होजाते हैं, यह उनकी दया ही है (सम्यक्त्व शल्योद्धार) और आवश्यक सूत्र में 'महिया' शब्द से फूलों से पूजा करने का भी कहा है, यह स्पष्ट बात तो आप भी मानते होंगे ?

उत्तर—उक्त मान्यता मिथ्यात्व पोषक और धर्म घातक है, इस प्रकार भोगियों की ओट लेकर मूर्ति-पूजा को सिद्ध करना और उसमें होती हुई हिंसा को दया कहना यह तो वेद विहित हिंसा का अनुमोदन करने के समान है। जो लोग हिंसा करके उसमें धर्म मानते हैं उन्हें यज्ञ में होती हुई

हिंसा को द्वेष (छोड़ने योग्य) कहने का क्या अधिकार है ? वे भी तो उस जीवों को खाने के लिये मारने वालों से बचा कर यह में होम कर देव पूजा करना चाहते हैं ! और उसी प्रकार उन जीवों को भी स्वर्ग में भेजना चाहते हैं !

महानुभावों ! पक्ष व्यामोह के बग्न होकर क्यों हिंसा को प्रोत्साह देते हो ? आपकी पुण्य पूजा में उक्त दक्षीन को धुन कर जब याज्ञिक लोग आपसे पूछेंगे कि महाशय ! हमको छोटे बताने वाले आप पुनः देव पूजा के लिये हिंसा करके उसमें धर्म कैसे मानते हो ? मार डालने पर उन जीवों की दया कैसे हो सकती है ? हमारी हिंसा तो हिंसा और साथ ही निन्दनीय और आपकी हिंसा दया और सराहनीय यह कहाँ का न्याय है ? तब आप क्या उत्तर देंगे ? क्या आपको वहाँ अघो दण्ड नहीं करनी पड़ेगी ?

क्या कभी सरल बुद्धि से यह भी सोचा कि कुछ भले ही भोग के लिये तोड़े अंग या इन कुत्तेसादि के या भले ही पूजा के लिये उनकी हत्या तो अनिवार्य है हत्या होने के बाद भले ही उनसे शय्या सजावटें तैयार बनाये या पूजा के काम में लेंगे उन्हें तो जीवन से हाथ धोना ही पड़ा न ? पूजा या भोग के लिये तोड़ने में उन्हें कष्ट तो समान ही होता है दोनों में अत्यन्त दुःख के साथ मृत्यु निश्चित ही है फिर इस में दया हुई ?

पुण्यों से पूजा करने का उपदेश और आदेश देने वाले भ्रमण अपने प्रथम और तृतीय महायत का स्पष्ट मन्त्र करते हैं । यदि इसमें संदेह होतो पुण्य पूजा में दया मानने वाले आपके विप्रयानम्सूरिजी ही द्वितीय जैन तत्त्वार्थ पृ० ३२७

में फल, फूल, पत्रादि तोड़ने को जीव अदत्त कहते हैं, देखिये—

‘दूसरा सचित्त वस्तु अर्थात् जीव वाली वस्तु फूल, फल, बीज, गुच्छा, पत्र, कंद, मूलादिक तथा बकरा, गाय, सुअरादिक इनको तोड़े, छेदे, भेदे, काटे सो जीव अदत्त कहिये, क्योंकि फूलादि जीवो ने अपने शरीर के छेदने भेदने की आज्ञा नहीं दीनी है, जो तुम हमको छेदो भेदो, इस वास्ते इसका नाम जीव अदत्त है’ ।

विजयानन्दसूरिजी के उक्त सत्य कथनानुसार पत्र फूलादि का तोड़ना जीव अदत्त है और अदत्त ग्रहण तीसरे महाव्रत का भङ्गकर्त्ता है, इसके सिवाय प्राणी हिंसा होने से प्रथम अहिंसा व्रत का भी नाश होता है, इस प्रकार यह पुष्प पूजा स्पष्ट (प्रत्यक्ष) महाव्रतों की घातक है, ऐसी महाव्रतों के मूल में कुठाराघात करने वाली पूजा का उपदेश, आदेश और अनुमोदन महाव्रती श्रमण तो कदापि नहीं कर सकते । न हिंसा में दया बताने वाला पापयुक्त लेख ही लिख सकते हैं ।

इन बेचारे निरपराध पुष्प के जीवों के प्रथम तो भोगी और इत्र तेलालादि बनाने वाले ही शत्रु थे, जिनसे रक्षा पाने के लिए इनकी दृष्टि त्यागियों पर थी, क्योंकि जैन के त्यागी श्रमण छः कायजीवों के रक्षक, पीहर होते हैं, वे स्वयं हिंसा नहीं करते हैं इतना ही नहीं किन्तु हिंसा करने वालों से भी जीवों की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं, अतएव त्यागी म-

हममा ही भोगियों को उपदेश देकर हमारी रक्षा का प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा थी किन्तु अब स्वयं त्यागी कहाने वाले भी कमर कसकर पुण्यों की अधिक २ हिस्सा करवा कर उसमें धर्म बतावें तब ये बेचारे कहाँ जाएँ ? किसकी शरणा लें ? यह तो दुधारी तलवार वाली पहल्ले तो भोगी लोग ही शत्रु थे, और अब तो त्यागी कि जिनसे रक्षा की आशा थी—वे भी शत्रु होगये ।

भोगी लोगों में से बहुत से तो फूलों को तोड़ने में हिंसा ही नहीं मानते और जितने मानते हों तो वे भी अपने भोगों के लिए तोड़ते हैं किन्तु उसमें धर्म तो नहीं मानते पर आश्चर्य तो यह है कि—सबे त्यागी पूर्ण अहिंसक कहाने वाले ये त्यागी लोग फूलों को तोड़ने तुड़वाने में हिंसा तो मानते हैं किन्तु इस हिंसा में भी धर्म क्या) होने की—विष को अमृत कहने रूप-प्रकपणा करते हैं । इस पर से तो कोई भी कुछ यह सोच सकता है कि— 'अधिक पाठकी कौन है ? ये कहे जाने वाले त्यागी या भोगी ? पाप को पाप, भूढ़ को भूढ़ कोटि की कोटा कहने वाला तो सचचा सत्य वक्ता है, किन्तु पाप को पुण्य भूढ़ को सत्य कोटि को खरा कहने वाले तो स्पष्ट सतरहवें पाप स्थान का सेवक (आमचूमकर माया से भूढ़ कोलमा) करने के साथ अन्य जीवों का अटारहवें पाप स्थान में धकेलते हैं और आप भी इसी अन्तिम प्रबल पाप स्थान के स्थामी बन जाते हैं । हजारों मद्र लोगों को भ्रम में डालकर मिथ्या मुफितियों द्वारा उनकी भयाना को भ्रष्ट करने व उन्हें उन्मार्ग गामी बनाने वाले संसार में नाम घाली त्यागी लोग जितने हैं उतने दूसरे नहीं ।

अब इन लोगों के बताये हुए “महिया” शब्द पर विचार करते हैं:—

आवश्यक हरिभद्रमूर्ति की वृत्ति वालेमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि—“महिया” शब्द पाठान्तर का है, मूल पाठ तो है “महेश्वर” जिसका अर्थ होता है ‘मेरे द्वारा’ (मेरे द्वारा वंदन स्तुति किये हुए) वृत्तिकार लिखते हैं कि—

‘महेश्वर—मयका, महिया इतिच पाठान्तरं,’

जबकि मू० पू० समाज के मान्य और लगभग १२०० सौ वर्षों के पूर्व होगये ऐसे आचार्यों ही इस ‘महिया’ शब्द को पाठान्तर मानते हैं, तब ऐसी हालत में इस विषय पर अधिक उहापोह करने की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

जो ‘महिया शब्द हरिभद्रमूर्ति के समय’ तक पाठान्तर में माना जाता था वह पीछे के आचार्यों द्वारा ‘महेश्वर’ को मूल से हटाकर स्वयं मूल रूप बन गया ।

फिर भी हम प्रश्नकार के संतोष के लिए थोड़ी देर के वास्ते ‘महिया’ शब्द को मूल का ही मानें तो भी इस शब्द का अर्थ—पुष्पादि से पूजा करना ऐसा आगम सम्मत नहीं हो सकता, क्योंकि “ ” — ।

क्योंकि यह ‘महिमा’ शब्द ‘चतुर्विंशतिस्तव’ (लोगस्स) का है, इस स्तव से चौबीस तीर्थकरों की स्तुति की जाती है, यह संपूर्ण पाठ और इसका एक २ वाक्य स्तुति से ही भरा है, इसके किसी भी शब्द से किसी अन्य द्रव्य से पूजा करने का अर्थ नहीं निकलता, केवल मन, वाणी, शरीर द्वारा ही भक्ति करने का यह सारा पाठ है । अवयव महिया शब्द जहां आया है उसके पहले के दो शब्द और लिखकर इसका सत्य अर्थ बताया जाता है,—

कितिय वदिय महिया,

कि० वाणी द्वारा कीर्ति (स्तुति) करना

ब० शरीर द्वारा बन्धन करना

म० मन द्वारा पूजा करना

इस प्रकार तीनों शब्दों का मन बन्धन और शरीर द्वारा भक्ति करने का अर्थ होता है यदि महिया शब्द से फूलों से पूजा करने का कहोगे तो मन द्वारा भाव पूजा करने का दूसरा कौनसा शब्द है ? और जब सारा लोगस्व का पाठ ही बन्धन शब्दों से प्रभु भक्ति करने की अपेक्षा नहीं रखता तब अकेला महिया शब्द किम प्रकार बन्धन शब्दों को ह्यान द सकता है ? ऐसे तो आप पुष्पादिभिः के साथ 'जलादिभिः' 'बन्धनादिभिः' 'आभूषणादिभिः' 'धुपादिभिः' मन माना अर्थ लगा सकते हो इसमें आपको रोक ही कौन सकता है ? किन्तु इस प्रकार मनमानी धकाने में कुछ भी काम नहीं है उन्हा अर्थ में हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, जिस से हानि अवश्य है । सरल भाव से सोचने पर बात होगी कि मूल में तो भाव महिया शब्द ही है जिसका अर्थ पूजा

होता है अथ यह पूजा कैसी और किस प्रकार की होनी चाहिये, इसके लिये जैन को तो अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जैनियों के देव वीतराग है वे किसी बाहरी पौदगलिक वस्तु को आत्मा के लिये उपयोगी नहीं मानते, पुद्गलों के त्याग को ही जिन्होंने धर्म कहा है वे स्वयं सुगन्ध सेवन आदि के त्यागी हैं, फिर ऐसे वीतराग की पूजा फूलों द्वारा कैसे की जा सके ? ऐसे प्रभु की पूजा तो मन को शुद्ध स्वच्छ निर्विकार बना कर अपने को प्रभु चरणों में भक्ति रूप से अर्पण कर देने में ही होती है, किसी बाहरी वस्तु से नहीं। फिर भी हम यहां आप से पूछते हैं कि अकेले महिया-पूजा शब्द मात्र से फूलों से पूजा होने का किस प्रकार कहा गया ? यह फूल शब्द कहां से लाकर बैठाया गया ? यदि इसके मूल कारण पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट भाषित होता है कि फूलों से पूजने में फूलों की हिंसा होती है इससे बचने के लिये ही महिया शब्द की ओट ली गई है जो सर्वथा अनुपादय है।

(१) यदि महिया शब्द से पुष्प से पूजा करने का अर्थ होता तो गणधर देव अतरुदृशाग सूत्र के छठे वर्ग के तीसरे अध्ययन के चौदहवें सूत्र में अर्जुन माली के मोगरपाणी यक्ष की पुष्प पूजाधिकार में 'पुष्पं चरां करेह' शब्द क्यों लेते ? वहा भी यह महिया शब्द ही लेना चाहिये था ? और सूत्रकार को लोगस्स के पाठ में पुष्प पूजा कहना अमिष्ट होता तो 'पुष्पं चरां करेमि' ऐसा स्पष्ट पाठ क्यों नहीं लेते ? महिया शब्द जो कि पुष्प के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता है क्यों लेते ?

(२) महिला शब्द चतुर्विंशतिस्तव का है और स्तव तो साधु भी करते हैं, वह भी दिन में कम से कम दो बार तो अवश्य ही अब हमारे मूर्ति पूजक बन्धु यह बताते कि क्या साधु भी पुष्प से पूजा करे ? आपके मान्य अर्थ से तो मू० पू० साधुओं को भी फूलों से पूजा करना चाहिये फिर आपके साधु क्यों नहीं करते ? इससे तो बड़ी फलित होता है कि आपका यह अर्थ व्यर्थ है तभी तो उसका पावन आप के साधु नहीं करते हैं ।

इस विषय में मूर्ति पूजक आचार्य विजयानन्दसूरिजी कहते हैं कि—

‘सामायिक में साधु तथा भावक पूर्वोक्त महिला शब्द से पुष्पादिक द्रव्यपूजा की अनुमोदना करते हैं । साधु को द्रव्य पूजा करने का निषेध है परन्तु उपदेश द्वारा द्रव्य पूजा करवाने का और उसकी अनुमोदना करने का त्याग नहीं है ।

(सम्बन्ध शब्दोच्चार ५ १४१)

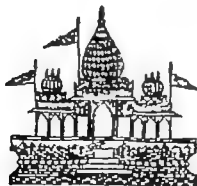
इनके इस प्रकार मनमाने विधान पर पाठक सरा प्यास से निश्चा करते कि जो काम स्वयं साधु के लिये त्याग्य है वह पाप कार्य खुद तो नहीं करे किन्तु दूसरों से करवावे यह तीन करण तीन योग के त्याग का पावन करना है क्या ? मुनि खुद तो हिंसा नहीं करे भूठ नहीं बोले, खोरी नहीं करे, और दूसरों को हत्या करने भूठ बोलने खोरी करने की आज्ञा दे ? यह सरासर अन्धेरा धाता नहीं तो क्या है ? अरे स्वयं वीर पिता के आचाराणादि आगमों में धर्म के लिये

वनस्पत्यादि की हिंसा करने का कटु फल बना कर अपने श्रमण भक्तों को उससे दूर रहने की आज्ञा दी है, स्वयं विजयानन्दजी ने भी जैनतत्वादर्श में इसी प्रश्न के उत्तर में प्रारम्भ में बताया अनुसार वनस्पत्यादि का तोड़ना जीव अदत्त बताया है फिर उसी जीव अदत्त की अनुमोदना मुनि करे, यह भी कह डालना श्री विजयानन्दजी का, स्ववचन विरोध रूप दूषण से दूषित नहीं है क्या ? ऐसा जीव अदत्त और उसके अनुमोदन का जघन्य काम मुनि महोदय किस प्रकार करें ? यह समझ में नहीं आता ।

इसके सिवाय 'कित्ति, चंदिय, महिया' इन तीनों शब्दों के लिये करण योगों की भिन्नता नहीं है, तीनों शब्द अपेक्षा रहित है, इनके लिये किसी के लिये एक करण और किसी के दो तीन करण या योग का कहना मिथ्या है । ये तीनों शब्द साधु और श्रावक को समान ही जागु होते हैं इनमें से दो शब्दों को छोड़ कर केवल एक 'महिया' शब्द के लिये पक्षपात वश कुतर्क करना यह कैसे सत्य हो सकता है ? यदि महिया शब्द से साधु स्वयं पुष्पों से पूजा नहीं करके दूसरे की अनुमोदना करे तो क्या त्रिकरण साधु त्यागी स्वयं तो हिंसा नहीं करे किन्तु दूसरे हिंसा करने वालों की अनुमोदना तथा हिंसा कारी कार्य का अन्य को उपदेश कर सकते हैं क्या ?

हा ! एक पंचमहाव्रतधारी साधु कहाने वाले इस प्रकार हिंसा की अनुमोदना करने का और हिंसा करने का उपदेश दें, ग्रन्थों में वैसा विधान करें, यह तो मूर्ति पूजकों का भारी पक्ष व्यामोह ही है, ऐसी विरुद्ध प्ररूपणा शुद्ध साधुमार्ग में तो नहीं चल सकती ।

आशा है कि—अप तो पाठक इस महिमा शब्द के अर्थ में होने वाले अमर्थ को और उसके कारण को समझ गये होंगे, जबकि—श्रीमागमों में मूर्ति पूजा और साक्षात् की भी सावध पूजा का विधान ही नहीं है, फिर ऐसे कुतर्क को स्थान ही कहाँ से हो सके ! और पुण्य पूजा से पुण्यों की दया होने का पथन साधु तो ठीक पर अधिरुति सम्पत्स्वी भी कैसे कह सके ! नहीं कहायि नहीं ।



३२-आवश्यक कृत्य और मूर्ति-पूजा



प्रश्न—जिस प्रकार साधु आहार पानी करते हैं, बरसते हुए पानी में स्थंडिल जाते हैं, नदी उतरते हैं, पानी में बहती हुई साध्वी को निकालते हैं, ऐसे अनेकों कार्य जैसे हिंसा होते हुए किए जाते हैं, उसी प्रकार पूजन में यद्यपि हिंसा होती है, तथापि महान् लाभ होने से करणीय है, ऐसी लाभ दायक पूजा का आपके यहां निषेध क्यों किया जाता है ?

उत्तर—उक्त उदाहरणों से मूर्ति-पूजा करणीय नहीं हो सकती, क्योंकि आहार पानी, स्थंडिल गमन आदि कार्य शरीर धारियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य है, इस लिये यथाविधि यत्ना पूर्वक उक्त कार्य किये जाते हैं इसी प्रकार कभी नदी उतरना भी अनिवार्य हो तो उसे भी आचारांग में बताई हुई विधि से उतर सकते हैं, अनावश्यकता से नदी उतरने की आज्ञा नहीं है, जैन मुनि यदि कोसों का चक्कर चला भी रास्ता होगा तो उससे जाने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु बिना खास आवश्यकता के नदी में नहीं उतरेंगे। पानी में बहती हुई साध्वी को भी त्याग मार्ग की

रक्षा के लिये रक्षा सकते हैं जिसके जीवन से अनेकों का उद्धार और परम्परा से लाखों के कल्याण होने की सम्भावना है ब्रह्मा उसका परम रक्षक भी है, एक माधुमत्त धारिणी मह सति के प्राण ब्रह्माने का पञ्च अमृत जीवों की रक्षा करने के समान है यदि बची हुई साध्वी में एक भी मिथ्यास्वी अनाद्य व ह्र स्पर्श को मिथ्यात्व से हटा कर आर्य और अस्पर्श बना दिया सम्भवतः प्राप्त कराया तो उस द्विमह के हाथों से अनेक प्राणी की हिंसा रुक कर प्रविष्ट में पड़ी ब्या पालक होकर स्व-यत् का कल्याण करने वाला हो सकता है यदि किसी एक को भी बांध देकर साधु दीक्षा प्रदान करेगी तो उससे उसकी आत्मा का उद्धार होने के साथ २ अनेक प्रकारके परोपकार भी होंगे। इसी उद्देश्य से सप्तमी महायती साधु अपने ही समान सप्तमा महायती धारिणी सार्वी की रक्षा करते हैं। यह सभी कार्य आवश्यक और अनिवार्य होने से किये जाते हैं इनमें प्रभु की परवानगी आगमों में बनाई गई है ऐसे अवसर के कार्य अनाबरहक ना की हासन में नहीं किये जाते यदि ऐसे कार्य बिना आ वश्य रता क किये जाय ना करने वाला मुनि स्वयं का भारी लाना है साधु आहार पानी स्नान गमन आदि कार्य क रत है यही उन्हें शारीरिक बाधाओं के कारण जाना पड़ता है बिना बाधाओं के दूर किये रत्नधरी का आराधन नहीं हो सकता अतएव ऐसे कार्य को यथमा पूरक करने में कोई नाति नहीं है।

गम आवश्यक और अनिवार्य कार्यों के वशादत्त देकर अनाबरहक आर स्पर्श की मूर्ति पूजा में प्राणी दिमा करना

यह सरासर अज्ञान है, मूर्ति-पूजा अनावश्यक है, निर्भरक है प्रभु, आत्मा रटिन है, लाभ किंचित भी नहीं है एानि ही है। अतएव ऐसी निर्भरक, अनावश्यक मूर्ति पूजा को उपादेय बनाने के लिये व्यर्थ चेष्टा करना बुद्धिमानी नहीं है।



३३—गृहस्थ सम्बन्धी आरम्भ और मूर्ति-पूजा

प्रश्न—गृहस्थ लोग अपने कार्य के लिये कस कूल पशु, अग्नि पानी आदि का आरम्भ करते हैं गृहस्थ जीवन आरम्भ मय जीवन है इसमें यदि पूजा के लिये थोड़ासा अन्न और कुछ फल फेंक पशु को दीपक घूप आदि अन्नपा रम्भ से प्रभु पूजा कर महान् लाभ उपार्जन किया जाय तो क्या हानि है।

उत्तर—आपका यह प्रश्न भी विवेक शून्यता का है। समझिए और विवेकवान् आपका वह, पूसादि कोई भी सखित वस्तु आपश्यक्तानुसार ही काम में लेते हैं आवश्यकता को भी घटाकर थोड़ा आरम्भ करने का प्रयत्न करते हैं आवश्यकता की सीमा में रहकर आरम्भ करते हुए भी आरम्भ को आरम्भ ही मानते हैं और सदैव ऐसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी आवश्यक आरम्भ को भी त्यागने का

मनोरथ करते हैं, श्रावक के तीन मनोरथों में सर्व प्रथम मनोरथ यही है ऐसे श्राद्धव्यर्थ कभी भी आवश्यकता से अधिक आरम्भ नहीं करते, ऐसी हालत में निरर्थक व्यर्थ का आरम्भ तो वे विवेकी श्रावक करें ही कैसे ?

व्यवहारिक कार्यों में जहां द्रव्य व्यय होता है, वहां भी सुज्ञ मनुष्य आवश्यकतानुसार ही खर्च करता है, निरर्थक एक कौड़ी भी नहीं लगाना। और ऐसे ही मनुष्य समार में आर्थिक संकट से भी दूर रहते हैं। जो निरर्थक श्राव मूढ़ कर द्रव्य उड़ाते हैं, उनको अन्त में अवश्य पछताना पड़ता है।

इसी प्रकार निरर्थक आरम्भ करने वाला भी अंत में दुःखी होता है।

मूर्ति-पूजा में जो भी आरम्भ होता है वह सब का सब निरर्थक व्यर्थ और अन्त में दुःख दायक है। विवेकी श्रावक जो गृहस्थाश्रम में स्थित होने से आरम्भ करना है, वह भी आरम्भ को पाप ही मन्ता है, और इस प्रकार अपने श्रद्धान को शुद्ध रखता हुआ ऐसे पाप से पिण्ड छुड़ाने की भावना रखता है। किन्तु मूर्ति-पूजा में जो आरम्भ होता है वह हेय होते हुए भी उपादेय (धर्म) माना जाकर श्रद्धान को बिगाड़ता है। और जब आरम्भ को उपादेय धर्म ही मानलिया तब उसे त्यागने का मनोरथ तो हो ही कैसे ? अतएव मूर्ति-पूजा में होने वाला आरम्भ निरर्थक अनावश्यक है तथा श्रद्धान को अशुद्ध कर सम्यक्त्व से गिराने वाला है अतएव शीघ्र त्यागने योग्य है।

३४—डॉक्टर या खुनी !

प्रश्न—जिस प्रकार डॉक्टर रोगी की कठब दशा देखकर उसे रोग मुक्त करने के लिए कटु औषधि देता है। आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र क्रिया भी करता है। जिससे रोगी को कष्ट तो होता ही है। किन्तु इससे वह रोग मुक्त हो जाता है और ऐसे रोग इतना डॉक्टर को आशीर्वाद देता है। कल्पित डॉक्टर को अपने प्रयत्न में निष्कलता मिले, और रोगी मर जाय तो भी रोगी के मरने से डॉक्टर इत्याय या खुनी नहीं हो सकता क्योंकि—डॉक्टर तो रोगी को बचाने का ही कामी था। इसी प्रकार व्रज्य पूजा में होने वाली हिंसा उम बीबों की व पूजकों की हितकर्ता ही है। ऐसे परोपकारी कार्य (मू० पू०) का निषेध क्यों किया जाता है ?

उत्तर—परोपकारी डॉक्टर का उदाहरण देकर मूर्ति पूजा को उपादेय बताना एकदम अलुचित है। वह उदाहरण तो उल्टा मूर्ति पूजा के विरोध में लगा रहता है। यहाँ हम डॉक्टर और रोगी सम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण करके उदाहरण की विपरीतता बताते हैं।

जो व्यक्ति शरीर के सभी अंगोपाङ्ग और उसमें रही हुई हड्डियें आदि को जानता व उसमें उत्पन्न होते हुए रोगों की पहिचान कर सकता है तथा योग्य उपचार से उनका प्रतिकार करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए बहुत समय तक अध्ययन मनन आदि कर विद्वानों का संतोष पात्र बना और प्रमाण पत्र प्राप्त कर सका हो वही व्यक्ति डाक्टर होकर रोगी की चिकित्सा करने का अधिकारी है।

जो व्यक्ति रोगी है, वह रोग मुक्त होने के लिए उक्त प्रकार के कार्य कुशल एवं विश्वासपात्र डाक्टर के पास जाकर अपनी हालत का वर्णन तथा निरोग बनाने की प्रार्थना करता है, डाक्टर भी उसके रोग की जांच कर उचित चिकित्सा करता है, डाक्टर के उपचार से रोगी को विश्वास हो जाता है कि—मैं निरोग बन जाऊँगा। यदि डाक्टर को शस्त्र क्रिया की आवश्यकता हो तो वह सर्व प्रथम रोगी की आज्ञा प्राप्त कर लेता है, ये सभी कार्य डाक्टर रोगी के हित के लिए ही करता है, किन्तु भाग्यवशात् डाक्टर अपने परिश्रम में निष्फल होजाय, और रोगी रोग मुक्त होते २ प्राण मुक्त ही हो जाय, तो भी परोपकार बुद्धि वाला डाक्टर रोगी की हत्या का अपराधी नहीं हो सकता।

किन्तु एक चिकित्सा विषय का अनभिज्ञ मनुष्य यदि किसी रोगी का उसकी दृष्टानुसार भी उपचार करे, और उससे रोगी को हानि पहुँचे, तो वह अनाड़ी अंत वैद्य राज्य नियमानुसार अपराधी ठहर कर दण्डित होता है।

और जो मनुष्य न तो डाक्टर है, न चिकित्सा ही करना जानता है, किन्तु दुष्ट बुद्धि से किसी मनुष्य को मारडाले,

और गिरफ्तार होने पर कहे कि—मने तो इनको रोग मुक्त करने के लिए राज मारा था तो वेभी हास्यप्रसक्त बात पर व्यापारधीश व्याम नहीं बैठे हुए उस हस्यांग टट्टरा कर था तो प्राण बगड़ बेगा था बड़िन कापवास बगड़, आ कि उसे मोगना ही पड़ेगा ।

हमारे मूर्ति पूजक बन्धु पूजा के पढाने केबारे निरपराध प्राणियों को मार कर उक्त परोपकारी और विश्वासपात्र डाक्टर की बेजि में बैठने की इच्छा रखते हैं यह किस प्रकार उचित हो सकता है ? वास्तव में इनके लिए (डाक्टर नहीं) किन्तु अन्तिम भेषी के खुनी का उदाहरण ही सर्वथा उपयुक्त है । क्योंकि—आ पृथ्वी पानी, वनस्पति आदि स्यावर और जल काया के जीव अपने जीवन में ही आत्मन् मानकर मरख दुःख से ही रहते हैं, सभी दीर्घ जीवन की इच्छा करते हैं ऐसे इन जीवों को उनकी इच्छा के विरुद्ध बाध हरख कर देने वाले हत्यारे की भेषी से कम कमी नहीं हो सकते । रोगी ही तरह वे प्राणी इन पूजक बन्धुओं के पास प्रार्थना करने नहीं आते कि महात्मन् हमारा जीवनमष्ट कर हमारे शरीर की बलि आप अपने मांने हुए भगवान को बढ़ाइये और हमपर उपकार कर हमें मुक्ति दीजिये । किन्तु पूजक महाशय स्वेच्छा से ही अम में पड़कर उनकी हरा मरा जीवन मष्ट कर उन्हें मृत्यु के घाट उतार देते हैं । इसलिये ये डाक्टर की भेषी के योग्य नहीं ।

इन जीवों का अपने भोग विनाश के लिये कष्ट पहुचाने वाले भोगी लोग संसार में बहुत हैं लेकिन वे भी इनकी हिंसा करके इसमें इन जीवों का उपकार होना तथा स्वयं

डाक्टर बनना नहीं मानते हैं, किन्तु परोपकारी डाक्टर की पंक्ति में बैठने का डोल करने वाले ये पूजक बन्धु तो बल पूर्वक हत्या करते हुए भी अपने को उस हत्यारे की तरह निर्दोष और उससे भी आगे बढ़कर परोपकारी बतलाते हैं, भला यह भी कोई परोपकार है ? इसमें परोपकार उन जीवों का हित कैसे हुआ ? हां नाश तो अवश्य हुआ ।

डाक्टरों को तो चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व प्रमाण पत्र प्राप्त करना पड़ता है, किन्तु हमारे पूजक बन्धु तो स्वतः ही डाक्टर बन जाते हैं, इन्हें किसी प्रमाण पत्र की आवश्यकता ही नहीं, गुरु कृपा से इनके काम बिना प्रमाण के भी चल सकता है, किन्तु इन्हें याद रखना चाहिये कि इस प्रकार अज्ञानता पूर्वक धर्म के नाम पर किये जाने वाले व्यर्थ आरंभ का फल अवश्य दुख दायक होगा वहां आपका यह मिथ्या उदाहरण कभा रत्ना नहीं कर सकेगा । अतएव पूजा के लिये होती हुई हिंसा में डाक्टर का उदाहरण एक दम निरर्थक है । यहां तो इसका उल्टा उदाहरण ही ठीक बैठता है ।



३५-न्यायाधीश या अन्याय प्रवर्तक



प्रश्न—जिस प्रकार न्यायाधीश नरहत्या करने वाले को राज्य नियमानुसार पाशा बण्ड देता हुआ हत्यारा नहीं हो सकता वसी प्रकार मूर्ति पूजा में धर्म नियमानुसार होती हुई हिंसा हानि कारक नहीं हो सकती, फिर ऐसी शस्त्र सम्पन्न पूजा को क्यों उठाई जाती है! यह द्वांस्त एक मूर्ति-पूजक साधु ने मू० पू० में होती हुई हिंसा से बचने को दिया था।

उत्तर—आपका डाकटरी से निष्कल होमे पर न्यायाधीश के आसन पर बैठने की चेष्टा करना भी निष्कल ही है। यहां भी आपके लिये न्यायाधीश के बजाय अन्याय प्रवर्तक पद ही अस्तित्व होता है।

सब प्रथम यह तर्क ही असंगत है क्योंकि राज्य नीति से धर्म नीति भिन्न है। राज्य नीति जीवन व्यवहार और सर्व सामारण्य में शांति की सुव्यवस्था स्थापित कर सांसारिक उन्नति की साधना के लिये द्रव्य सेवादि की अपेक्षा से

होती है, और धर्म नीति स्वपर कल्याण मोक्षमार्ग के साधनार्थ होती है, राज्यनीति में मनुष्य के सिवाय प्रायः सभी प्राणियों की हत्या का दण्ड विधान नहीं भी होता है। किन्तु धर्म नीति में सूक्ष्म स्थावर की भी हिंसा को पाप यत्ना कर हिंसा कर्त्ता को दण्ड का भागी माना है। यहां तक ही नहीं मन से भी बुरे विचार करना हिंसा में गिना गया है, ऐसी हालत में न्यायाधीश का उदाहरण धार्मिक मामलों में अनुचित है। फिर भी यदि यह बाधा उपस्थित नहीं की जाय तो भी इस दृष्टान्त पर से मूर्ति-पूजक पूजा जन्म हिंसा के अपराध से मुक्त नहीं हो सकते, उल्टे अधिक फंसेते हैं।

उक्त उदाहरण में मुख्य तीन पात्र हैं, १ हत्यारा २ जिसकी हत्या की गई हो वो और तीसरा न्यायाधीश। प्रथम पात्र हत्याकारी, जब दूसरे व्यक्ति की हत्या कर डालता है, तब गिरफ्तार होकर तीसरे पात्र न्यायाधीश के सम्मुख अपराध की जांच और उचित दण्ड के लिये नगर रक्षक की ओर से खड़ा किया जाता है। न्यायाधीश अपराधी का अपराध प्रमाणित होने पर योग्य पंचों से परामर्श कर कानून के अनुसार ही दण्ड देता है। न्यायाधीश इस प्रकार के अपराधों के दण्ड देने के योग्य न्याय शास्त्र का अभ्यासी और अधिकार सम्पन्न होता है इसीसे अपराधी को अपराध की शिक्षा न्यायशास्त्रानुसार प्राण दण्ड तक देता हुआ भी हत्यारा दोषी नहीं हो सकता।

अपराधी के अपराध का दण्ड देने में भी पर हित सार्वजनिक शान्ति की भावना रही हुई है। यदि अपराधी को

उचित दण्ड नहीं दिया जाय तो मणिष्य में वह अभिष्ट अ
पराध कर अम साधारण को कष्ट होता होगा। दूसरा अम्य
भाग भी अब यह नहीं मानेंगे कि अपराधों का दण्ड नहीं
मिलता तो अधिक उत्पात या अनर्थ करने लगे ऐसी
सम्भावना है अतएव परहित हृदि से नियमानुसार दण्ड
देना भी आवश्यक है।

न्यायाधीश और रूनी का उदाहरण मूर्ति पूजा की छिद्रि
में नहीं किन्तु विरोध में उपयुक्त है क्योंकि न्यायाधीश का
उदाहरण तो अपराधी को समझाव दण्ड देने का सिद्ध कर
ता है। और हमारे मूर्ति पूजक माई ईश्वर मकिन के नाम
से स्वेच्छानुसार निरपराध जीवों की हत्या करते हैं। क्या
हमारे माई यह बता सकेंगे कि वे पानी पुष्प फल अग्नि
आदि के जीवों को किस अपराध पर प्राण दण्ड देते हैं ?
क्यों दण्ड देने का अधिकार कब और किससे प्राप्त हुआ
है ? वे किस धर्मशास्त्रानुसार उनके प्राण छूटते हैं ?

यह तो मामला ही बस्ता है न्यायाधीश का उदाहरण
अपराधी को अपराध का दण्ड देना बताता है और आप
करते हैं निरपराधों के प्राणों का सहार।

कोई अज्ञानतापी मार्ग चलते किसी निर्बल की हत्या क
रके एकदु जामे पर कहे कि मैंने तो उसे अपराध का दण्ड
दिया है। तब जिन प्रकार उसका यह झूठा कथन अमान्य
हाकर अन्त में वह दण्डित होता है, उसी प्रकार निरपराध
पाशियों को धर्म के नाम पर मार कर फिर ऊपर से न्याया
धीश बनने का डोंग करने वाले भी अन्त में अपराधी के
कठहरे में लड़े कि वे आकर कर्म रूपी न्यायाधीश से अवश्य
अपराध का दण्ड पावेंगे।

और उसका जितना अंश आगम आशययुक्त या जिन वचनों को अबाधक है, उसे मानने में हमें कोई हानि नहीं।

हम मूल सूत्र के सिवाय टीका निर्युक्ति आदि को भी मानते हैं, किन्तु वे होने चाहिये मूलास्य युक्त, मूल के बिना या मूल के विपरीत मान्य नहीं हो सकते। वर्तमान में ऐसी पूर्ण अबाधक टीका निर्युक्ति नहीं होती अभी जितनी टीकाएं या निर्युक्ति आदि हैं उनमें कहीं २ तो सर्वथा बिना मूल के ही और कहीं मूल के विपरीत भी प्रयास हुआ पाया जाता है, ऐसी हालत में वर्तमान की टीका निर्युक्ति आदि साहित्य पूर्ण रूप से मान्य नहीं है। हां उचित और अबाधक अंश के लिये हमारा विरोध नहीं है। वर्तमान की टीकाएं प्राचीन नहीं, किन्तु अर्वाचीन हैं। इस विषय में स्वयं विजयानन्दजी सूरि भी जैन तन्वादर्थ पृ० ३१२ पर लिखते हैं कि—

‘सर्व शास्त्रों की टीका लिखी थी। वो सर्व विच्छेद हो गई’

इसी प्रकार प्राचीन टीका का विच्छेद होना स्वयं टीकाकार भी स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इस समय जितनी टीकाएं उपलब्ध हैं वे सभी प्राचीन नहीं किन्तु अर्वाचीन हैं, इसके सिवाय वर्तमान टीकाकार भी प्रायः चैत्यवादी और चैत्यवासी परम्परा के ही थे। तथा टीकाओं में टीकाकार का स्वतन्त्र मंतव्य भी तो होता है। वस चैत्यवाद प्रधान समय में होने से इन टीकाओं में अपने समय के इस भावों का आजाना कोई बड़ी बात नहीं है। कितने ही महाशय ऐसे भी होते हैं जो अपने मंतव्य को जनता से मान्य करवाने के हेतु उसे सर्वमान्य साहित्य में मिला देते हैं, इस

३६-क्या ३१मूल सूत्र के बाहर का साहित्य मान्य है ?

प्रश्न—आप बत्तीस मूल सूत्र के सिवा अम्य सूत्र ग्रंथ तथा उन सूत्रों की टीका, तिर्युक्ति आदि भाष्य टीपिका आदि को क्यों नहीं मानते ? मन्त्रीसूत्र का कि ३२ में ही है उसमें अम्य सूत्रों के भी नामोल्लेख है फिर ऐसे सूत्र को क्या मूर्ति पूजा का अधिकार होने से ही तो आप नहीं मानते हैं ।

उत्तर—जो शास्त्र, ग्रंथ, या टीकादि साहित्य भीतर राग प्रकृषित आदर्शांगी बाणी के अनुकूल है वही हमारा मान्य है हमारी मशानुसार एकादर्शांग और अम्य २१ सूत्र ऐसे ३२ सूत्र ही पूर्ण रूप से भीतरांग वचनों से प्रभावित है इसके सिवाय के साहित्य में बाधक अंश भी प्रविष्ट हो गया है तथा उपरिधन है अतएव उनको पूर्ण रूप से मानने को हम तय्यार नहीं हैं । ३२ सूत्रों के बाहर भी जो साहित्य है

और उसका जितना अंश आगम आशययुक्त या जिन वचनों को अबाधक है, उसे मानने में हमें कोई हानि नहीं।

हम मूल सूत्र के सिवाय टीका निर्युक्ति आदि को भी मानते हैं, किन्तु वे होने चाहिये मूलास्य युक्त, मूल के बिना या मूल के विपरीत मान्य नहीं हो सकते। वर्तमान में ऐसी पूर्ण अबाधक टीका निर्युक्ति नहीं होती अभी जितनी टीकाएं या निर्युक्ति आदि हैं उनमें कहीं २ तो सर्वथा बिना मूल के ही और कहीं मूल के विपरीत भी प्रयास हुआ पाया जाता है, ऐसी हालत में वर्तमान की टीका निर्युक्ति आदि साहित्य पूर्ण रूप से मान्य नहीं है। हां उचित और अबाधक अंश के लिये हमारा विरोध नहीं है। वर्तमान की टीकाएं प्राचीन नहीं, किन्तु अर्वाचीन हैं। इस विषय में स्वयं विजयानन्दजी सूरि भी जैन तत्वादर्थ पृ० ३१२ पर लिखते हैं कि—

‘सर्व शास्त्रों की टीका लिखी थी। वो सर्व विच्छेद हो गई’

इसी प्रकार प्राचीन टीका का विच्छेद होना स्वयं टीकाकार भी स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इस समय जितनी टीकाएं उपलब्ध हैं वे सभी प्राचीन नहीं किन्तु अर्वाचीन हैं, इसके सिवाय वर्तमान टीकाकार भी प्रायः चैत्यवादी और चैत्यवासी परम्परा के ही थे। तथा टीकाओं में टीकाकार का स्वतन्त्र मंतव्य भी तो होता है। बस चैत्यवाद प्रधान समय में होने से इन टीकाओं में अपने समय के इष्ट भावों का आजाना कोई बड़ी बात नहीं है। कितने ही महाशय ऐसे भी होते हैं जो अपने मंतव्य को जनता से मान्य करवाने के हेतु उसे सर्वमान्य साहित्य में मिला देते हैं, इस

प्रकार भी जैव साहित्य में बिगाड़ा हुआ है। क्योंकि दार्शनिक परता मनुष्य से जादे सो कर सकती है। माध्य, कृति, निर्युक्ति आदि में स्वार्थ परतामे भी अपना रंग जमाया है। हमारी इस बात को तो श्री विजयानन्द सूरि भी जैन तत्त्वा द्यं हिंदी के पृष्ठ ३५ में लिखते हैं कि—

‘अनेक तरह के माध्य टीका टीपिका रचकर अर्थों की पड़पड़ कर बीनी सो अरताइकरते हीं बड़े जाते हैं।

यद्यपि बहू कथन वैदानुपायों पर है तथापि इस पृथिव्य कार्य सं स्वयं जैनतत्त्वाद्यर्थ के कर्ता और इनके अम्य मूर्ति-पूजक टीकाकार भी बधित नहीं रहे हैं, अम्यकारों ने भी अपने अम्य के नूतन नियम आगम यामे विजयानन्द के एक इस विपरीत बड़ डाँके हैं, सबे प्रथम मूर्ति पूजक समाज के बहू विजयानन्द सूरि के जैनतत्त्वाद्यर्थ के ही कुछ अवतरण पाठकों की जानकारी के लिए देता हूँ, देखिये—

(१) पत्र बेह फूल प्रमुख की रचना करनी --- --
ततपत्र सहस्रपत्र, आई केतकी, अम्यकादि विशेष फूलों की माला मुकुट सेहरा फूलधरादिक की रचना कर, तथा जिनगी के हाथ में विजोरा, नारियल सोपारी, नागधस्त्री मोहोर, रुपैया बहू प्रमुख रखना--- (पृ० ४०५)

(२) प्रथम तो उष्ण प्रायस्क जल से स्नान करे, और उष्ण जल न मिले तब बरसा से स्नान करके प्रमाण संयुक्त ही तब जल से स्नान करे। (पृ० ११९)

(३) मैथुन सेवके तथा वमन करके इन दोनों में कछुक देर पीछे स्नान करे। (पृ० ४००)

(४) देव पूजा के वास्ते गृहस्थ को स्नान करना कहा है, तथा शरीर के चैतन्य सुख के वास्ते भी स्नान है। (पृ० ४००)

(५) सूके हुए फूलों से पूजा न करे, तथा जो फूल धरती में गिरा होवे तथा जिसकी पांखड़ी सड़गई होवे, नीच लोगों का जिसको स्पर्श हुआ होवे, जो शुभ न होवे, जो बिकसे हुए न होवें रात को बासी रहे, मकड़ी के जाले वाले, जो देखने में अच्छे न लगे, दुर्गंध वाले, सुगंध रहित, खट्टी गंध वाले..... .. ऐसे फूलों से जिनदेव की पूजा न करणी।
(पृ० ४१३)

(६) मन्दिर में मकड़ी के जाले लगे हों उनके उतारने की विधि बताते हुए लिखते हैं कि—

साधु नोकरी की निर्भ्रंशना करें..... पीछे जयणा से साधु आप दूर करे। (पृ० ४१७)

(७) देव के आगे दीवा वाले देवका चन्दन..... देव का जल (पृ० ४२६)

(८) संग निकालते समय साथ में लेने का सामान आदि का विधान भी देखिये—

आडम्बर सहित बड़ा चरु, घड़ा, थाल, डेरा, तम्बू, कढ़ा-हियां साथ लेवे, चलतां कूपादिक को सज करे, तथा गाढ़ा

सेज बासा, रथ पर्यंक पासपी जैठ गोड़ा प्रमुख साथ
 खेजे तथा भीसंध की रसा वास्ते बड़े योजों को नोकर
 रखें योजों को कतब अगकाधि उपस्कर देवे, तथा गीत
 गठक बासिधादि सामग्री मिले— फूल घर कदली
 घरादि महापूजा करे— — नाना प्रकार की वस्तु फल एक
 सौ आठ बीसीस व्यासी, बाबन, बहल्लादि होवे, सब
 मह मांजन के पास होवे । (पृ० ४७४)

(१) सुन्दर अंगी पत्र अंगी सबोहाभरन, पुष्पगृह
 कदलीगृह पूनकी पाणी के रंजादि की रखना करे तथा
 बाबा गीत सूर्यादि उत्सव से महापूजा रात्रि आचरण करे—

तथा तीज की प्रमाणवा वास्ते बाजे गाजे मीठाहन्वर
 से गुरु का प्रवेश करावे । (पृ० ४७४)

(१०) भी संघ की मक्ति में—

‘सुगन्धित फूल मक्ति से नारियलादि विविध तांबूल
 प्रदान रूप मक्ति करे’ (पृ० ४७४)

सुब बन्धुओ ! देना मूर्ति पुत्रक आचार्य भी विजयानन्दजी
 के धार्मिक प्रवचन—धर्म ग्रन्थ के धार्मिक विधान का मसूना ?
 क्या ऐसा बस्त्रेक जैन साधु कर सकते हैं ? क्या इसमें से
 एक बात भी किसी जैनगम से प्रमाणित हो सकती है ?
 नहीं कदापि नहीं ।

फल फूल पत्रादि तोड़े कदली गृह बनावे स्नान करे
 मंथन मंथन कर स्नान करे गाढ़े, थोड़े सीनिक, शरू डेरा,
 तम्बू कर, कड़ाही आदि साथ वे गीत, नृत्य बासिधादि करे
 पन्नारे छाड़े ताबूल प्रदान करे आदि २ बातों में किस धर्म
 की प्रकृषणा हुई । इमर्म फौमसा आरमदित है । ऐसा प्रत्यक्ष

आश्रव वर्द्धक कथन जैन मुनि तो कदापि नहीं कर सकता । मेरे विचार से उक्त कथन केवल इन्द्रियों के विषय पोषण रूप स्वार्थ से प्रेरित होकर ही किया गया है, सुगन्धित पुष्पों से घ्राणेन्द्रिय के विषय का पोषण होता है, और इसी लिए अरुचि कर खट्टी गन्ध वाले, रुड़े विगड़े ऐसे फूलों का बहिष्कार किया गया है, श्रवणेन्द्रिय के विषय का पोषण करने के लिए वाजित्र युक्त, गान, तान पर्याप्त है, नेत्रों का विषय पोषण, सुन्दर अंगी पत्र भर्गा, दीप राशि मनोहर सजाई, यत्र से जलका विचित्र प्रकार से द्योड़ना, और नृत्य आदि से हो ही जाता है, रसेन्द्रिय के विषय पोषण के लिए तो चरू कढ़ाई आदि की रूचना हो ही गई है, इसी से रुदोष आहार भी उपादेय माना जा रहा है और भक्तों को तांबूल प्रदान करने का रुकेत भी कुछ थोड़ा महत्त्व नहीं रखता, शार्ङ्गिक सुखों की पूर्ति की तो बात ही निराली है, इसीलिए तो "जैन तत्त्वादर्थ पृ० ४६२ में यह भी लिख दिया गया है कि—

११-साधुओं की पगचंपी करे

इस प्रकार सभी कार्य पांचों इन्द्रियों के विषय पोषक हैं, यदि ऐसे कार्यों के लिए भी ग्रन्थों में विधान नहीं होतो इच्छा पूर्ण किस प्रकार हो सके । धर्म की ओट में सब चल सकता है, नहीं तो व्यापारी समाज अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे को कभी भी ऐसे नुकसानकारी कार्य में खर्च नहीं करे, बल्कि लोगों से जाति या धर्म के नाम से ही इच्छित खर्च करवाया जा सकता है । ऐसे ही कार्यों में यह समाज उदार है ।

बन्धुओ ! आप केवल विजयानन्दजी के उक्त अवतरण देख कर यह नहीं समझें कि—इनके सिवाय और किसी मूर्ति पूजक

आचार्य ने ऐसा कयल नहीं किया होगा यदि अन्य आचार्यों के उत्प्रेक्षाओं का उत्तरण भी दिया जाय तो व्यर्थ में निबन्ध का क्षेत्र अधिक बढ़ा हो जाय, इसलिये इस प्रकार के अन्य व्यवहार नहीं करके आपको थोड़ा देना बाँखे की चार व्यवहार अन्य आचार्यों के भी देता हूँ।

देखिये—

(१२) श्री जिनदत्त सूरिजी विवेक विलास (भावति ५) में लिखते हैं कि—

“अथ रत्नमां आचार स्वकप उच्छ्रिताति घट्, कफ, कृमि दुर्गन्ध, अने वायु जो नाश करनाट, मुख में शोभा अर्पणार एवा तांबूल ने के माससो साथ से लेना घरने श्री कृष्णना घरनी पेठे लक्ष्मी कोइती नयी” (पृष्ठ १६)

(१३) अब जरा सावधान होकर श्री बशीकरस सम्बन्धी जैनचार्य का बताया हुआ प्रयोग भी देखिये—

“जे दिशानी पोतानी नासिकर बहेती होय ते तरफ कमिनी ने आसन ऊपर अथवा पैर्या ऊपर बेसाके छ, आम करवायी ते अम्भत्त कमिनिमो तत्काल मांज बशीभूत यह जाय छे” । (पृष्ठ १६०)

(१४) जे दिवसे भारे भोजन न कर्यु होय, तथा बुधादिनी बढमा अंगमां लवसिर पण न होय, स्नानादिक थी परवारी अंगे अम्भत्त केसर आदि सु बिशेषण कर्यु जाय, अने इदय मां प्रीति तथा स्नेह नी लमीमा उच्छ्रितती होय तीज ते श्री ने भोगबी शके छे” (पृष्ठ १६८)

इस विषय में जैनचार्यजी ने और भी बहुत सारा है, किन्तु यहाँ इतना ही पर्याप्त है, अब जरा इनके कलि-काल सर्वस भी

हेमचन्द्राचार्यजी का भी वशोकण मन्त्र देख लीजिए आप योग शास्त्र के पांचवें प्रकाश के २४२ वें श्लोक में बताते हैं कि—

आसने शयने वापि, पूर्णगे विनिवेशिताः ।

वशी भंगति कामिन्यो, न कर्मण मतः परम ॥ २४२

अर्थात्—आसन या शयन के समय पूर्णग की ओर विठाई हुई स्त्रियों स्वाधीन हो जाती हैं, इसके सिवाय दूसरा कोई कर्मण नहीं ।

पाठकों ! क्या, ऐसा लेख जैन मुनि का हो सकता है । यदि आपको ऐसी शका हो तो मेरे निर्देश किये हुए स्थलों पर मिलान करा लीजिए आपको विश्वास होजायगा कि जो कथन काम शास्त्र का होना चाहिए वह जैन शास्त्र में और वह भी जैन के कलिकल सर्वज्ञ महान् आचार्य वहे जाने वालों के पवित्र कर कमलों से लिखा जाय, यह पानी में आग और अमृत में हलाहल विष के समान है, अब आप ही बतलाइये कि इस प्रकार के धर्म घातक आरम्भ और विषय वर्द्धक पोथों को किस प्रकार धर्म ग्रन्थ मानें ।

ऐसे ही हमारे मूर्ति पूजक वन्धुओं के कथा ग्रन्थों या अन्य ढालें रास चरित्र और महात्म्य ग्रन्थों को भी आप देखेंगे तो वहा भी आप को मूर्ति पूजा विषयक गपोड़े प्रचुरता से मिलेंगे पर ये हैं सब मन गढ़न्त ही, क्योंकि उभय मान्य और गणधर रचित, सूत्रों में तो इस विषय का संकेत मात्र भी नहीं है । सत्तेप में यहां कुछ गपोड़ों का नमूना भी देखियेः—

कुमारपाल राजा के इस विशाल राज्य ऐश्वर्य का कारण निम्न प्रकार बताया है ।

नव कोड़ी ने फूलड़, पाम्यो वेश्र भडार ।

कुमार, पाल गभा यपो, वर्य अय अयकार ।

अर्थात्—केवल नौ कोड़ी के फूलों से मूर्ति की पूजा करके ही कुमारपाल अठरह वेश्र का राजा हुआ । ऐसा पूर्व अग्नि का इतिहास नौ बिना विशिष्ट ज्ञान के कोई नहीं बता सकता, और अवधि भावि विशिष्ट ज्ञान का क्याकार के समय में अभाव था तब ऐसी पूर्व भव की बात और उस पुष्प पूजा का ही अठरह वेश्र पर राज्य का फल कैसे जाना गया ? क्या यह मन गड़भ्त गप्प मोला नहीं है । पाठक स्वयं विचारें तो मालुम होगा कि स्वार्थ परता क्या नहीं करती ? और देखिये—

कल्प स्रव व आवश्यक की क्या है उसमें यह बतलाया है कि—दश पूर्व घर भीमवृ वज्रस्वामीजी महापूज मूर्ति पूजा के लिए आकाश में उड़कर अम्ब वेश्र में गये और वहां से बीस लाख फूल लाकर पूजा करवाई ।

पाठक हम्द ! अब भीमवृवज्रस्वामी जीसे दशपूर्वघर महान् आचार्य भी मूर्ति पूजा के लिए लाखों फूल अनक योजन आकाश मार्ग से आकर लाये और पूजा करवाई तब आजकल

साधु लोग मन्दिर के बगीचे में से ही थोड़े से फूल तोड़कर पूजा करें तो इसमें क्या दुर्गि बात है ? इन्हें भी यादिए कि पाठा कल होते ही ये वृक्ष और लताओं पर दूध पड़ें, जितने अधिक फूलों से पूजेंगे उतना अधिक फल होगा, और उतने ही अधिक फूलों के जीवों की इनके मतानुसार दया भी होगी । यदि यह कहा जाय कि—श्री वज्र स्वामी ने उस समय अम्ब वेश्रों से पुष्प लाकर शायन की बाड़ी मारी प्रभावना की और राजा सैन धर्म

पर के द्वंद्व को शान्त कर उसे जैन धर्मी बना दिया, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि-जैन धर्म का प्रभाव फूलों या फलों से मूर्ति पूजने में नहीं किन्तु, इसके कल्याणकारी प्राणीमात्र को शान्तिदाता ऐसे विशाल एवं उदार सिद्धांत से ही होता है। वज्र स्वामी पूर्वधर और अपने समय के समर्थ प्रभावक आचार्य थे, वे चाहते तो अपने प्रकार के पांडित्य और महान् आत्मबल से धर्म एवं जिन शासन की प्रभावना करके जैनत्व की विजय वैजयति फहरा सकते। क्या लाखों फूलों की हिंसा करने में ही धर्म एवं शासन की प्रभावना है। क्या श्रीमद्वज्रस्वामीजी में ज्ञान और चारित्र्य बल नहीं था, जो वे लाखों पुष्पों के प्राण लूट कर असाधुता का कार्य करते।

यदि सत्य कहा जाय तो दशपूर्वधर श्रीमद्वज्राचार्य ने साधुता का घातक और आस्रव वर्धक ऐसा कार्य किया ही नहीं, न कल्प सूत्र के मूल में ही यह बात है, किन्तु पीछे से किसी महामना महाशय ने इस प्रकार की चतुराई किसी गुप्त आशय से की है ऐसा मालुम होता है, इस प्रकार समर्थ आचार्यों के नाम लेकर अन्ध श्रद्धालुओं से आज तक मनमानी क्रियाएँ करवाई जा रही हैं।

इसी प्रकार त्रिपष्ठिशलाका पुरुष चरित्र, जैन रामायण, पाण्डव चरित्र समरादित्य चरित्र आदि ग्रंथों की कथाओं में सैकड़ों स्थानों पर मूर्ति की कल्पित कथाएँ गढ़ी गई हैं, श्री हेमचन्द्राचार्य ने महावीर चरित्र में तो यहां तक लिख दिया कि "इन्द्रशर्मा ब्राह्मण ने साक्षात् प्रभु की भी सचित्त फूलों से पूजा की थी " जो अनन्त चारित्रवान् प्रभु सचित्त पुष्प, बीज आदि स्पर्श भी नहीं करते उनके लिए ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है ? सूत्रों में अनेक स्थानों पर एक सम्राट से लेकर सामान्य जन समुदाय तक के प्रभु भक्ति का अर्थात् वन्दन

नमन सेवा करने का कथन मिलता है, किन्तु किसी भी स्थान पर किसी ग्रन्थ सचिन्त या ग्रन्थिन्त पदार्थ से पूजा करने का उल्लेख नाम मात्र भी नहीं है, किन्तु भ्रामर हेमचन्द्रजी न ओं कि से १३०० वर्ष पीछे हुए हैं सचिन्त फूलों से पूजने का हाल किस विशिष्ट क्षण में जान लिया । और ।

अब पाठक इनके पहाड़ों की प्रशंसा वृत्तक बचनों की भी कुछ हालत देखें—शत्रुञ्जय पर्वत की महत्ता बिजाते हुए लिखा है कि—

‘ न सहस्रं घनं तिर्ये, उग्रमण्डलं तथेण ब्रह्म चरेत् ।

तं सहस्रं पद्मस्यैव सेधेन गिरिभिर्निबसन्तो ॥’

अर्थात्—ओ फल ग्रन्थ तीर्थों में उत्कृष्ट तप और ग्रन्थचर्य में होता है वही फल उद्यम करके शत्रुञ्जय में निवास करने से होता है ।

बस चाहिये ही क्या ? फिर तप ग्रन्थचर्य पालन कर कार्य कष्ट क्यों किया जाता है ? अब भयंकर कष्ट सहन करने का भी फल मात्र शत्रुञ्जय पर्वत पर निवास करने समान ही हो तो फिर महान् तपश्चर्या कर कष्ट शरीर और इन्द्रियों का कष्ट क्यों बना चाहिये ? इस बिधान से तो साधु डाकर समय पालन करने की भी आवश्यकता नहीं रहती ।
मात्र श्रुति—

अतोहीनं पुनः कामिद—माहार मोह भायेत ।

अ सहस्रं तप्य पुनः, एतां वासन सत्तुवे ॥

अर्थात्—बाज़ा मनुष्य की भोजन करण का प्रियमा पुण्य

होता है उनना हो पुण्य शत्रुजय पर मात्र एक उपवास करने से ही हो जाय है ।

हां, है तो बड़े मनलव की बात पैसे बचे और लाखों रुपयों के खर्च के बराबर पुण्य भी मिल गया, फिर व्यर्थ ही द्रव्य व्यय कर भूखों को अन्नदान देने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसा सस्ता सौदा भी नहीं कर सके चैत्ता मूर्ख कौन है ? भाग्य फूटे बेचारे दीन दुखियों के कि जिनके पेट पर यह फल विधान की छुरी फिरी । आगे बढ़िये—

अथावयं समेष्ट पात्रा चंगाहं उज्जंत नगेय ।

वंदत्ता पुन्नं फलं, सयभुणंतपि पुंडरिए ॥

अर्थान्—अष्टापद जहां श्री ऋषभ देवजी, समेष्टशिखर जहां बीस तीर्थंकर पावापुरी में श्री महावीर प्रभु चम्पा में श्री वासु पञ्चजी गिरनार जहां श्री नेमिनाथजी मोक्ष पथारे इन सभी तीर्थों के वन्दन का जो पुण्य फल होता है उससे भी सो-गुणा अधिक फल पुंडरिक गिरि के दर्शन से होता है ।

घर और व्यापार के कार्यों को छोड़ कर दूर दूर के अन्य तीर्थों में भटकने वाले शायद मूर्ख ही हैं, जो केवल एक बार शत्रुजय के दर्शन कर अन्य तीर्थों से सोगुणा अधिक लाभ प्राप्त नहीं कर लेते ! इस विधान से गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र, मालवा, आदि देशों के रहने वाले मूर्ति पूजक भाइयों के लिए तो प्रे पौधारह है, इन्हे अब आने समय और द्रव्य का विशेष व्यय कर बिलकुल थोड़े लाभ के लिए दूर के तीर्थों में जानें की जरूरत नहीं रही, थोड़े समय और द्रव्य खर्च से अपने पास ही के शत्रुजय पर एक बार जाकर इस विधान के अनुसार महान लाभ प्राप्त कर लेना चाहिये ।

व्यापारिक समाज तो सर्वत्र सस्ते सौदा को ही पसन्द करती है। अधिक कर्ष कर थोड़ा लाभ प्राप्त करना और थोड़ा कर्ष से होने वाले अधिक लाभ को छोड़ देना व्यापारियों के लिये तो अचित्त नहीं है। इसलिए इन्हें अन्य तीर्थों में जाना एक दम बन्द कर देना चाहिए। अब जरा सम्मेलन कर पढ़िये—

धरणी रहिवाँ, संजय, विमल गिरि गोपमस्तु गच्छिषो ।

पठित्वा मेम मम सादृश्यो, अद्दी दीर साह पठित्वा मई ॥

अर्थ—चारित्र्य से रहित (केवल बेपयायी) ऐसे साधु को भी विमल गिरि पर गौतम गणधर के समान कर्मभङ्गा चाहिए ऐसे एक साधु को प्रतिलाभने से अर्द्धार्द्ध द्वीप के समीप साधुओं को प्रतिलाभने का फल होता है।

(ऐसा ही फल विधान आधकों के किये भी है।)

उक्त गाथा से हमारे मूर्ति पूजक बन्धुओं के लिये अब विश्रुत धरणी मार्ग हो गया है न तो सुदृष्टाभ्रम छोड़ने की आवश्यकता है, और न मेरु समान कठिन पंथ महामत प्राप्तनी भी आवश्यक है। निरर्थक कष्ट सहन करने की आवश्यकता ही क्या है? जबकि केवल शत्रुंजय पर्वत पर साधु बैप पढ़न कर कोई भी द्रव्यलिंगी भक्ता आये तो वह गौतम गणधर जैसा बनजाता है इससे अधिक तब आदिये ही क्या? और भावुक मफ्तों को भी किसी ऐसे द्रव्यलिंगी को सुझा कर शीघ्र ही सिद्धांत से पात्र मर देना आदिये, बस होगया बेकूपार। विश्व मर के सुविहित साधुओं की दान देने का महाफल सदृश ही प्राप्त होगया कदिये दितना सस्ता सौदा है? क्या ऐसा सहज सुजय, सस्ते से सस्ता और

महान् लाभकारी मार्ग कोई सुविहित बता सकता है ? शायद इसी महान् लाभ के फल विधान को जानकर इससे भी अत्यधिक लाभ प्राप्त करने को पालीताने में सम्पत्तिशाली भक्तों ने रसोढ़े भोजनालय खोल रखे होंगे ?

इस हिमाय से तो श्रेणिक, कौणिक, कृष्ण, सुभूम और ब्रह्मदत्त आदि महाराजा लोग या तो मूर्ख या मक्खीचूस होंगे, जो ऐसे सस्ते सौदे को भी नहीं पटा सके और तो ठीक पर भगवान् महावीर प्रभु का अनन्य भक्त ऐसा सम्राट् कौणिक जो प्रभु के सदैव समाचार मंगवाया करता था, और इस कार्य के लिये कुछ सेवक भी रख छोड़े थे, वह एक छोटासा मन्दिर भी नहीं बना सका ? कितना कंजूस होगा ? इसीसे तो उसे नर्क में जाना पड़ा ? यदि वह कम से कम एक भी मंदिर बनवा देता तो उसे नर्क तो नहीं देखनी पड़ती ?

पाठक बन्धुओ ! आश्चर्य की कोई बात नहीं, यह सब लीला स्वार्थ देव की है, यह शक्तिशाली देव अनहोनी को भी कर बताता है । अब ऐसी ही पौराणिक गप्प आपको और दिखाता हूं ।

मूर्ति पूजक बन्धु शत्रुंजय पर्वत के समीप की शत्रुंजया नदी के लिये इस प्रकार गाते हैं कि—

केवलियों के स्नान निमित्त, ।

इशान इन्द्र आणी सुपक्ति ॥

नदी शत्रुंजय सोहामणी ।

भरते दीठी कौतुक भणी ॥

अर्थात् केवल शानियों के स्नान के लिये इशानइन्द्र स्वर्ग से शत्रुंजी नदी लाया, यह देखकर भरतेश्वर को आश्चर्य हुआ ।

क्या अब भी कोई गण्य की सीमा है ? हमारे मूर्ति-पूजक पशु केवलजानी भायक सिद्धों को भी स्नान कराकर अपवित्र से पवित्र करना चाहते हैं सो भी उच्छ्लोक स्वर्ग के जल में ही ! वाह कहीं केवली भी इस मनुष्य लोक के जल से महा सकते हैं ? किन्तु इशानेन्द्र ने एक मूल तो अवश्य की हमें यह नहीं सुझा कि इस स्वर्ग गंगा को मैं मनुष्य लोक में छोड़ाकर पृथ्वी पर क्यों पटक दूँ। इससे तो वह इस लोक की साधारण नदियों जैसी हो गई ! कमसे कम पृथ्वी से दो बार हाथ तो ऊँची ऊपर रखना था, जिससे स्वर्ग-गंगा का महारथ भी बसा रहता शासनप्रभावना भी होती और आज विचारकों का वह पात गण्य नहीं जान पड़ती। आज के सभी विचारक प्रायः इस बात को चक्रवर्ती की गण्य से अधिक मानने का तत्प्राय नहीं है। इसके सिवाय इस स्वर्ग गंगा (शत्रुघ्न्य नदी) ने भी अपना स्वभाव साधारण नदी जैसा बना लिया। विरोधी तो दूर रहे पर ८१० अब पहले कुछ भक्तों को भी अपने विशाल पट में समा लिये। फिर क्योंकर इसे स्वर्ग पातिनी कही जाय ?

हाँ जिस परम पुनीत नदी में केवल जामी भी स्नानकर पवित्र होते हैं वहाँ सामान्य साधु स्नान कर कर्म मलरहित होने की चेष्ट करें इसमें तो कहना ही क्या है ! किन्तु जब हम इन लोगों के मिश्रित देखते हैं तब ऐसा मात्स्य होता है कि यह लोग भी साधुओं को समान करना नहीं मानते किन्तु साधुओं के लिये स्नान का नियेष करते हैं और स्नान में सपम भंग होना मानते हैं वे ही ऐसे गणेशों पर विश्वास कर इनको सत्य माने यह कहाँ का न्याय है !

ग्रन्थुओं यह तो किंचित् नमूना मात्र ही है किन्तु यदि सारे शत्रुजय महात्मय को भी गपौड़ा शास्त्र कहा जाये तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है ।

ऐसे गपौड़ शास्त्रों को किस प्रकार आगम वाणी मानी जाय ? इसी लिये इनके बनाये हुए ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं माने जाते, और ऐसे ग्रन्थों को अप्रामाणिक घोषित कर देना ही साधुमार्गियों की न्याय परता है ।

इसी प्रकार ३२ सूत्र के बाहर जो सूत्र कहे जाते हैं और जिनका नामोल्लेख नन्दी सूत्र में है उनमें भी महामना (?) महाशयों ने अपनी चतुराई लगा कर असलियत पिगाड़ दी अतएव उनके भी बाधक अंश को छाड़ कर आगम सम्मत अंश को हम मान्य करते हैं ।

जिस महानिशीथ का नाम नन्दी सूत्र में है उसमें भी बहुत परिवर्तन होगया है ऐसा उल्लेख स्वयं महानिशीथ में भी है, और सूक्ति मडन प्रश्नोत्तर कर्त्ता भी लिखते हैं कि (महानिशीथनो) पाछुलनो भाग लोप थई जवाथी जेटलो मली आव्यो तेटलो जिनाक्षा मुजव लखी दीधु

इस प्रकार शुद्धि और जिर्णोद्धार के नाम से इन लोगों ने इच्छित अंश इन खंडित या अखंडित सूत्रों में मिला दिया है। अन्य सूत्रों को जाने दीजिये, अंगोपांग में भी इन महानुभावों ने अनेक स्थानों पर न्यूनाधिक कर दिया है, और अर्थ का अनर्थ भी । इसके सिवाय भावों को तोड़ मरोड़ने में तो

कमी एकपत्री ही नहीं है। अगोपांगादि के मूल में कस्वित पाठ मिलाने के कुछ प्रमाण देने के पूर्व भी विजयदान सूरि की विषयक जैन तत्त्वादर्श पृ० ५८५ का निम्न अवतरण दिया जाता है —

‘जिन्होंने एकावशां सून अनेक बार सुख करे’।

वन्धुओ ! यह बार बार अगसुखि कैसी ! और वह भी श्री धर्मप्राप्त लोकाशाह के चाके ही। यों वाद भी विजयदान सूरिजी ने की ! इसमें अवश्य कुछ रहस्य है।

यहां हम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि इन सुखि कर्ता महोदय ने मूल में पाठान्त आदि के रूप से पूल तो निम्ना ही दी होगी क्योंकि सुखिकर्ता भी विजयदान सूरिजी भीमान् धर्म प्राप्त लोकाशाह के वाद ही हुए हैं। बघर भीमान् लोकाशाह ने आगमोक्त सुख जनन का प्रचार कर मूर्ति पूजा के विनाश पुलंज आयाज बढाई मूर्ति पूजा को सर्वत्र अभिप्राय रहित घोषित की और शिषिस हुए साधु समुदाय की भी धरर ली ऐसी हालत में यदि आगमों को असली हालत में ही रहने दिया जाय तब तो मूर्ति पूजा का अस्तित्व ही धरतर में था क्योंकि इन्हीं आगमों के पक्ष पर ता लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया था ! इस सिधे आगमों में इच्छित परिणतम करना विजयदान सूरिजी को सर्वे प्रथम आवश्यक मानूम हुआ हो यस करवाली मनमात्री ! और इस प्रकार आगमों के नाम से जनता को अपने ही जाल में फंसाये रखने में भी सुमीता ही रहा। आगे की बात सोड दीजिये, अभी इन विजयदानम् सूरिजी ने भी पाठ परि वर्तन करने में कुछ कमी नहीं एकपत्री, ‘सम्यक्काय शस्योद्धार’

हिंदी की चौथी आवृत्ति के पृ० १८६ में श्री आचारांग सूत्र का निम्न पाठ दिया है, देखिये,

(१) 'भिक्षु गामाणुगामं दुइज्जमाणे अन्तरासे नई आ-
गच्छेज्ज एगं पायं जले किञ्चा एगं पायं थले किञ्चा एवं एहं
संतरइ' ।

इस प्रकार पाठ लिखकर विशेष में लिखते हैं कि—

‘यहां भगवंत ने हिंसा करने की आज्ञा क्यों दीनी ?

उक्त मूल पाठ में श्री विजयानन्दजी ने कई शब्दों को उड़ा कर कैसा निकृष्ट कार्य किया है, यह बताने के लिए मूर्ति पूजक समाज के रायधनपति लिह बहादुर के सम्बत १९३६ के छपाये हुए आचारांग सूत्र दूसरे श्रुतस्कन्ध पृ० १४४ में का यही पाठ दिया जाता है—

“से भिक्षुवा भिक्षुणिवा गामाणुगामं दुइज्जमाणे अन्तरासे जंघा सन्तारिमे उदगसिया से पुव्वायेव ससीसो वारियं प्रोदयं पमज्जेज्जासे पुव्वामेव पमज्जित्ता जाव एग पादं जले किञ्चा एगं पादं थले किञ्चा तथो संज्जया मेव जंघा संतारिमे उदगे आहारिय रिणज्जा” ।

प्रिय पाठक महोदयों ! जरा विजयानन्दजी के दिये हुए पाठ से इस पाठ का मिलान करिये, और फिर हिंसा बतलाइये कि—न्यायाभोनिधि, कलिकाल सर्वज्ञ समान कहाने वाले श्री विजयानन्दसुरिजी ने इस छोटे से पाठ में से कितने शब्द चुराये हैं ? एक छोटे से पाठ को इस प्रकार बिगाड़कर उसमें से अनेक शब्दों को उड़ाने वाले साधारण अक्षरों

मात्रादि म्यूनाधिक करने में क्या रीत करने होंगे ? और एक आवश्यक व अनिवार्य कार्य का यतना पूरक करने की विधि को हिंसा करने की आज्ञा बताकर कितना महान् अनर्थ करते हैं ?

अबकि—साधारण मात्रा या अनुस्वारतक का म्यूनाधिक करने वाला अमन्त संनारी कहा जाता है, तब पाठ के पाठ बिगाड़ देने वाले यदि अपनी करणी के फल मोग रहे हों तो आश्चर्य ही क्या है ?

(२) ब्रह्म महाराम की दूसरी बहादुरी देखिये—सम्पत्त्व शब्दोद्धार अनुपादिति पू० १८४ में आचारांग सूत्र का पाठ इस प्रकार दिया है—

‘आश वा नो आशं वदेत्वा’

अब रामचन्द्रपतिसिंह बहादुर के आचारांग का उक्त पाठ देखिए—

‘आशं वा शो आशं ति वदेत्वा’

उक्त उक्त पाठ को बिगाड़कर मतःकल्पित अर्थ करते हैं। कि— जानता होवे तो भी कह देवे कि मैं नहीं जानता हूँ, अर्थात् मैंने नहीं देखा है” इस प्रकार प्रत्यक्ष सुपाभाद वाक्य ने का विधान करते हैं किन्तु हमी के मतानुपायी भी पारसै अम्बजी बाबू के आचारांग में आपानुवाद करते हुए यीका कार के इस प्रकार मूढ़ वाक्य के अर्थ को असत्य बताकर वहाँ मौन रहने का अर्थ करते हैं।

(३) ब्रह्म सुरिजी ने उसी सम्पत्त्व शब्दोद्धार पू० १८४ में भी मगबती सूत्र अतक ८ बदेगा, १। का पाठ इस प्रकार दिया है—

“मणसञ्च जोगपरिणया वय मोस जोग परिणया” और इस पाठ का अर्थ करते हैं कि—“सृगपृच्छादिक में मन में तो सत्य है और वचन में मृग है” ।

उपरोक्त पाठ और अर्थ दोनों असत्य है भगवती सूत्र के उक्त स्थल पर इस प्रकार का पाठ है ही नहीं, फिर यह नूतन पाठ और इच्छित अर्थ कहाँ से लिया गया ? यह विजयानन्द जी ही जानें ।

✓ (४) उपासकदशांग के आनन्दाधिकार में—‘अण उत्थि-य परिगहियाणि’ के आगे “अरिहंत” शब्द अधिक बढ़ा दिया गया है ।

✓ (५) उववाई सूत्र में चम्पा नगरी के वर्णन में—‘बहुला अरिहंत चेइयाइं’ पाठ बढ़ा दिया, कितने ही मू० पू० विद्वान तो इसे पाठान्तर मानते हैं, और कुछ लोग पाठान्तर मानने से भी इन्कार करते हैं । अभी थोड़े दिन पहले इन लोगों की ‘आक्षेप निवारिणी समिति’ के ओर से ‘जैन सत्य प्रकाश’ नामक मासिक पत्र प्रकट हुआ है, उसके प्रारम्भ के तीसरे अङ्क पृ० ७६ में ‘जिन मन्दिर’ शीर्षक लेख में श्री दर्शनविजयजी, उववाई का पाठ इस प्रकार देते हैं—

आयारवंत चेइय विविह सन्निविट्ट बहुला सूत्र ?

और अर्थ करते हैं कि—‘चम्पा नगरी सुन्दर चैत्यो तथा सुन्दर विविधता वाला सन्निवेशोधी युक्त छे’ ।

ले चम्पा वर्णनमां पाठान्तर छे के—

अरिहंत चेइय जण-वाई-विसरिण विट्ट बहुला-सूत्र १

अर्थ—चम्पापुरी अरिहंत चैत्यो, मानवीओ अने मुनिओ ना सन्निवेशो बड़े विशाल छे ।

इस प्रकार श्री दर्शनविजयजी ने मूल पाठ और पाठान्तर बताया है, हमारे विचार से तो यह पाठान्तर भी इच्छापूर्वक बनाकर लगाया है ।

श्रीमान् दर्शनविजयजी भी मूल पाठ में से एक शब्द का गये और पाठान्तर का अर्थ भी मनमाना कर दिया । वेनिये शब्द मूल पाठ—

आपारवन्त चेह्य 'जुवह' विविह समिष्टविद्व बहुजा ।

इस छोट से पाठमें से 'जुवह' शब्द श्रीमान् दर्शनविजयजी ने क्यों उड़ाया । यह तो वे ही जानें, हमें तो यही विश्वास होता है कि—यह शब्द जानबूझ कर ही उड़ाया गया है क्योंकि इस शब्द का टीकाकारने "युवति चेस्या" अर्थ किया है जो श्री दर्शन विजयजी को चैत्य के साथ होने से कुछ बुरा माहुरम दिया होगा । किन्तु इस प्रकार मनमाना केरफर करना यह तो प्रत्यक्ष में सिद्धान्तिक कमजोरी सिद्ध करता है ।

यहां एक यह भी विचारणीय बात है कि—इनके भाषार्थों का जब 'आपारवन्त चेह्य' शब्द से जिन मन्दिर-मूर्ति अर्थ हुए नहीं या तभी तो इन लोगों ने पाठान्तर को बढ़ाते यह नूतन पाठ बढ़ाया है । इस से यह सिद्ध हुआ कि—चैत्य शब्द का अर्थ जिन मन्दिर-मूर्ति नहीं होकर यशस्तय भी है ।

(१) आताथर्म कर्पांग में द्वीपश्री के सोलहवें अक्षरपत्र में "शमायुर्ब " आदि पाठ अधिक बढ़ाया हुआ है ।

इस प्रकार साहसिक ग्रहानुसारों ने अपने मत की सिद्धि के लिए मूल में धूल मिलाकर अमता का बड़े भ्रम में डाल दिया है ।

मूल सूत्र के नाम से जो गप्पें उड़ाई गई हैं अब उनके भी कुछ नमूने दिखाये जाते हैं । लीजिये—

✓(१) सम्यक्त्वशाल्योद्धार पृ० ६ के नोट में उत्तराध्ययन सूत्र का नाम लेकर एक गाथा लिखी है वो इस प्रकार है—

तीए वि तासि साहूणीणं समीवे गहिया दिक्खाकय सुव्वय-
नामा तव संजम कुणमाणी विहरइ ।

धन्धुओ ! उत्तराध्ययन के द्वाँ अध्ययन की कुल ६२ गाथाएँ हैं, किन्तु इन सभी काव्यों में उक्त काव्य का पता ही नहीं, फिर उत्तराध्ययन सूत्र के नाम से गप्प क्यों उड़ाई गई ?

✓(२) मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० २३७ में 'सूत्र कृतांग श्रुत-
स्कन्ध २ अध्ययन ६ का नाम लेकर आर्द्रकुमार के सम्बन्ध में लिखते हैं कि सूत्र मा तो 'प्रथम जिन पडिमा' एम स्पष्ट प्रथम तीर्यंकर श्री ऋषभ देव स्वामी नी प्रतिमानो पाठ छे " ।

यह भी एक पूर्ण रूप से गप्प ही है मूल सूत्र में यह बात है ही नहीं ।

✓(३) पुनः उक्त ग्रन्थकार पृ० २११ में एक गाथा की दुर्दशा इस प्रकार करते हैं—

आरम्मे नत्थी दया, विना आरम्भ न होइ महापुन्नो ।
पुन्ने न कम्म निज्जरे रान कम्म निज्जरे नत्थी मुक्खी ॥

अर्थात्—आरम्भ में दया नहीं, विना आरम्भ के महापुण्य नहीं होता, पुण्य से कर्म की निर्जरा होती है, निर्जरा विना मोक्ष नहीं मिल सकता ।

अब उक्त गाथा इन्हीं के मतानुषारी आचरक श्रीमती माणिक के छपयाये हुए 'पर्युपल परवनी कथाओं' नामक ग्रन्थ के पृ० ५१ में इस प्रकार है—

आरामे नरथी दया, मदिका संगेण नासए ॥

अकार, सम्मत्— परजना अस्थगदयेत् ॥

यद्यपि इस छन्द पाठ में भी अशुद्धि है किन्तु इससे यह तो सिद्ध हो गया कि मूर्ति प्रणवन करने में जाने किस अभिप्राय से इस गाथा के तीन अक्षर तोड़ कर एकही जगह में पढ़ दिये हैं।

ये तो इनके मिथ्या प्रयासों के कुछ नमूने मात्र हैं। अब थोड़ा सा अर्थ का अन्वय करने के लिये कुछ प्रमाण इतिये—

(१) आवश्यक सूत्र के लोगस्त के पाठ में आये हुए "मदिका" शब्द का अर्थ पूतों से पूजा करने का सिक्का अन्वय ही किया है।

(२) निशीथ, वृद्धकल्प, व्यवहार, कल्पसूत्र आदि में आये हुए "विहार भूमिवा" शब्द का अर्थ स्थित भूमि होता है किन्तु इससे विचर "जिन इन्द्र" अर्थ कर इन्हींमें यह भी अन्वय किया है।

(३) सूत्रों में "आपम" शब्द आया है जिसका अर्थ पाग पद होता है जैन सिद्धांतों को मान पद ही मान्य है द्रव्य नहीं प्रत्यक्ष आकर में दया को पद कहा है, तथा मगधती सूत्र श० १५ उद्देश २० में सोमिल ब्राह्मण के प्रश्नों के उत्तर में प्रभु ने कोषादि के नाश को पद कहा है इसी प्रकार काला धर्म कर्पाग म० ४ में इन्द्रिय जो इन्द्रिय पद बताया है, इन सभी का मान आत्मोत्थान रूप क्रियाओं मान पद—से ही

है, इस प्रकार जैन धर्म को मान्य ऐसे भाव यज्ञ की स्पष्ट व्याख्या होते हुए भी मूर्ति पूजक ग्रन्थकारों ने कल्प सूत्र में इसका " जिन प्रतिमा " अर्थ कर दिया, यदि यह शब्द किसी कथानक में द्रव्य यज्ञ को बताने वाला होतो भी वहां " मूर्ति " अर्थ तो किसी भी तरह नहीं हो सकता, ऐसे स्थान पर भी " हवन " अर्थ ही उपयुक्त हो सकता है, अतएव यह भी अर्थ का अनर्थ ही है ।

✓ (४) यज्ञ की तरह ये लोग " यात्रा " शब्द का अर्थ भी पहाड़ों में भटकना बतलाते हैं किन्तु जैन मान्यता में यात्रा शब्द का अर्थ ज्ञानादि चतुष्टय की आराधना करना बताया है, जिसके लिए भगवती, ज्ञाता, स्पष्ट साक्षी है । अतएव यात्रा शब्द का अर्थ भी पहाड़ों में भटकना जैन मान्यता और आत्म कल्याण के लिए अनर्थ ही है ।

✓ (५) व्यवहार सूत्र में सिद्ध भगवान की वैयावृत्त्य करने का कहा है, जिस का अर्थ मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तरकार पृ० १५० में निम्न प्रकार से करते हैं,

" सिद्ध भगवान् नी वैयावच्च ते तेमनुं मन्दिर बधावी, मूर्ति स्थापन करी वस्त्राभूषण, गन्ध पुष्प, धूप, दीपेकरी अष्ट प्रकारी, सत्तर प्रकारी पूजा करे तेने कहे छे " ।

इस प्रकार मन माना अर्थ बनाकर केवल अनर्थ ही किया है ।

✓ (६) श्री आत्मारामजी ने हिंदी सम्यक्त्वशाल्योद्धार में भगवती सूत्र श० ३ उ० ५ का पाठ लिखकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि—“सद्य के कार्य के लिए लब्धि फोड़ने में प्रायश्चित नहीं ” किन्तु इस विषय में जो मूल पाठ दिया

गया है उसका यह अर्थ नहीं हो सकता, वहा तो भवितात्मा बनगार की शक्ति का वर्णन है, जिसमें श्रीगीतमस्वामीजी के प्रश्न करने पर प्रभु ने फरमाया कि—

“ भावितात्मा बनगार स्त्री रूप बना सकते हैं, स्त्री रूप से सारा जगद्दीप भर सकते हैं, पताका जगद्ग्यारक कर, ठलवार, डाल (या तलवार का म्यान) हाथ में धेकर आकाश में उड़ सकते हैं । घोड़ा का रूप बना सकते हैं । इत्यादि इसके बाद यह बताया है कि—आत्मायी मुनि ऐसा नहीं करते और करेंगे वे “मायायी = बड़े आवेगे, उन्हें मायस्थित लेना पड़ेगा बिना मायस्थित के वे विराधक—आज्ञाबहार होंगे ।

इस प्रकार के कथन से श्री विजयानन्दजी लक्ष्मि कोट्टने की निम्न किस प्रकार कर सकते हैं ? यहाँ तो लक्ष्मि कोट्टन वाले को विराधक और मायायी कहा है फिर यह अस्याय क्यों ? और बिना किसी आचार के ही “ संयक काम पड़े तो लक्ष्मि कोट्टे” ऐसा क्यों कहा गया ?

क्या साधु स्त्री रूप बना कर या घोड़ा बनकर या ठलवार धेकर संघ की भक्ति या रक्षा करे ? यह माया चारिता नहीं है क्या ? स्त्री रूप से संघ सेवा किस प्रकार हो सकती है ? यदि प्रश्नों का यहाँ समाधान अत्यावश्यक हो जाता है । वास्तव में सूत्र में ऐसे कामों से शासन सेवा नहीं पर शासन विरोध और मायाचारीपन कहा गया है अतएव यह भी अनर्थ ही है ।

(७) मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० १७८ में अष्टांग सूत्राये ह्य “ आचक = शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—

“ अष्टांग सूत्र मां आचक शब्द नो अर्थ कर्यो वे त्यां (१)
जिन प्रतिमा (२) जिन मन्दिर (३) शाक (४) साधु (५)

साध्वी (६) श्रावक (७) श्राविका ए सात क्षेत्रे धन खर्च
निवाणों हुकम फरमाव्यो छे” ।

इस प्रकार श्रावक शब्द का मन कल्पित ही अर्थ किया
गया है । जब कि—सूत्रों में स्पष्ट श्रावक के कर्त्तव्य बताया गये
हैं उन सब की उपेक्षा कर मनमाना अर्थ करना साफ अनर्थ है ।

✓ (८) इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के पाठ का अर्थ करते
हुए मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० २७८ में लिखा है कि—

“उत्तराध्ययनना २८ मां अध्ययन मां कहा मुजब सम्यक्त्व
ना आठ आचार सेवन कर्या छे तेमा सात क्षेत्र पण आवी गया,
कारण के ते आचारों मां स्वधर्मों वात्सल्य तथा प्रभावना ए
वे आचार कहा छे, तो स्वधर्मों वात्सल्य मां साधु, साध्वी,
श्रावक, श्राविका, ए चार क्षेत्र जाणवा, ने प्रभावना मां जिन
बिब, जिन मन्दिर तथा शास्त्र, ए त्रण आवी गया, एम आणन्द
कामदेवादि तथा परदेशी राजाए पण करेल छे ” ।

इस प्रकार मन्दिर मूर्ति सिद्ध करने के लिए अर्थ का अनर्थ
किया गया है ।

✓ (९) श्री भवगती सूत्र का नाम लेकर मूर्ति मण्डन प्रश्नो-
त्तर पृ० २८७ में जो अनर्थ किया गया है वह भी जरा देख
लीजिए—

“ स्थावर तीर्थ ते शेषजय, गिरनार, नन्दीश्वर, अष्टापद,
आबू, सम्मेतशिखर, वगैरे छे, तेनी जात्रा जघाचारण, विद्या-
चारण मुनिवरो पण करे छे, एम श्री भगवती सत्र मां फर-
माव्यु छे ” ।

यह भी अनर्थ पूर्वक गप्प ही है ।

✓ (१०) प्रश्न व्याकरण के प्रथम भास्त्रव द्वार में हिंसा के
कथन में देवालय, चैत्यादि के लिए हिंसा करने वाले को मन्द

बुद्धि और नर्क गमन करने बाध बताये हैं, वहाँ उक्त मूर्ति मण्डप प्रसन्नोत्तरकार अपना बधाव करने के लिए उन बेवालों को म्हेच्छों मन्त्री मार्गों यवनों आदि के बताते हैं, और हम बात को सिद्ध करने के लिए प्रसन्न व्याकरण का एक पाठ भी निम्न प्रकार से पेश करते हैं—

“ कयरे से तेसो परिया मन्त्रार्थ धामा उषिया जाव कूर कम्मकारी हमेव बहवे मिसेक जाति किसे सम्ये अवथा ” ।
(पृ० २८२)

उक्त पाठ भी श्लेष्मा से घटा बढ़ा कर दिया गया है इस प्रकार का पाठ कोई ग्रन्थकारण में नहीं है और न वह मन्दिर मूर्ति से ही सम्बन्ध रखता है इस प्रकार मन माना व्यर्थ इधर उधर से लेकर मिला वेना सपसर अनर्थ है ।

—(११) श्री विजयानन्द सूरिजी “ जैनतत्त्वादर्श ” पृ० २३१ में लिखते हैं कि—

‘आपकों जिनमन्दिर बनाने से जिन पूजा करने से सुख मिमत्सुत करने से, तीर्थयात्रा जाने से रथोरसब, अडाई उत्सव, प्रतिष्ठा, अरु अंगन श्रद्धाका करने से, तथा भगवान के सम्मुख जाने से गुरु के सम्मुख जाने से, इत्यादि कर्तव्य से जो हिंसा होवे सो सब प्रस्य दिंसा है, परन्तु माव हिंसा नहीं इसका फल अरु पाप अन बहुत निर्जरा है, यह भगवती सूत्र में लिखा है यह हिंसा साधु आदि करते हैं’ ।

इस प्रकार श्री विजयानन्दसूरि ने एकदम सिद्धा ही गप्प मारदी है, भगवती सूत्र में उक्त प्रकार से कहीं भी नहीं लिखा है, हाँ, शायद सूरिजी ने अपनी कोई स्वतन्त्र मारवेद भगवती बनाली हो और उसमें ऐसा लिखकर फिर दूसरों को इस प्रकार बताते रहे हों तो यह दूसरी बात है ।

इस प्रकार मन्दिर व मूर्ति के लिए जिन के सुरिचर्य भी अर्थ के अनर्थ और मिथ्या गप्पे लगाते रहें, वहां सन्य शोधन की तो बात ही कहाँ रहती है ? इस प्रकार अनेक स्थलों पर मनमानी की गई है, यदि कोई इस विषय की खोज करने को बैठे तो सहज में एक बृहत ग्रन्थ बन सकता है । अतएव इस विषय को यहीं पूर्ण कर इनकी टीका नियुक्ति आदि की विपरीतता के भी कुछ प्रमाण दिखाये जाते हैं—

टीका, भाष्यादि में विपरीतता कर देने के दुःख से दुःखित हो स्वयं विजयानन्दसूरिजी जैन तत्वादर्थ पृ० ३५ में लिखते हैं कि—

“अनेक तरह के भाष्य, टीका, दीपिका, रचकर अर्थों की गड़बड़ कर दीनी सो अब ताई करते ही चले जाते हैं” ।

यद्यपि श्री विजयानन्दजी का उक्त आक्षेप वेदानुयायियों पर है किन्तु यही दशा इन मूर्ति पूजक आचार्यों से रचित टीका नियुक्ति भाष्य आदि का भी है, उनमें भी कर्त्ताओं ने अपनी करतूत चलाने में कसर नहीं रक्खी है, जबकि स्वयं विजयानन्दजी ने मूल में प्रक्षेप करते कुछ भी संकोच नहीं किया, और कई स्थानों पर अर्थों के अनर्थ कर दिये जिनके कुछ प्रमाण पहले दिये जा चुके हैं, तब टीका भाष्यादि में गड़बड़ी करने में तो भय ही कौनसा है ? जैसी चाहें वैसी व्याख्या कर दें । श्री विजयानन्दजी का पूर्वोक्त कथन पूर्ण रूपेण इनकी समाज पर चरितार्थ होता है ।

श्री विजयानन्दसूरि जैन तत्वादर्थ पृ० ३१२ पर लिखते हैं कि—

तो पण आगल जणावेना ही शीलांक सुरिष्ट करेना आपा-
 रांग ना केटसाक पाठोना अकला अर्घा उपरवी अमे वस्य
 शम्भू मा अर्घ उपर ही आप नी कोई जोई शक्या दशाके
 टीकाकारो ए अर्घो करवा मा जोताना समयभेद सामो राखी
 केरलु पणु ओकम केरलु ऐ । हु का वाचत ने पण स्वीकार
 करुं तुं के जो महेश्वर टीकाकार महाशयोप जो मूल मो
 अर्थ मूल मो समय प्रमाणेन कर्षो होत तो जैन शासन मां
 धर्ममान मां ज मतमतानरो जोना मां कावे के ते चला ओझा
 होत अमे धर्म ने नामे आधु अमासर्तु अबाध घणु ओझु
 व्यापत

आगे पृ० १३१ में लिखते हैं कि—

ज वात अगे ना मूल पाठो मां नवी ते वात तेना उपा-
 गोमां नियुक्तिओमा आप्योमां, कृतिओ मां अवसृष्टिओ
 मां, अने टीकाओ मां शीरीते हाह शके ।

इस प्रकार जब मूल की टीकाओं की यह हालत है तब स्व
 तन्त्र ग्रन्थों की तो बात ही क्या ? इस वजहों ने मूर्ति-पूजा
 को शास्त्रोक्त सिद्ध करने के लिये कितने ही नूतन ग्रन्थ बना
 डाले हैं । पहाड़ पर्वतों की महिमा भी खूब मर पेठ कर डा
 ली है अथवा को शिवा वैदे में कुशव पेसे भी सिद्धगान्धारी
 ने स्वर्ण अज्ञानतिमिर शास्कर' नामक ग्रन्थ के पृ० १८ में
 'तीर्थों का महारम्य सो टंकसाक है' शीर्षक से स्पष्ट लिखते
 हैं कि—

नाम, तात्पर्य पर्वत भूमि इत्यादिक ओबेरी में
 लिखने कने तिनकी कथा जैसी २

पुरानी होती गई तैसी २ प्रमाणिक होती गई, और फन भी देने लगी 'यह टंकमाल अब भी जारी है' ।

श्री प्रियानन्द सूरि के उक्त शब्द शत्रुजय गिरनारआदि पहाड़ों के ग्रिय में भी अज्ञातः लागू होने हैं, क्योंकि इनके महात्म्यआदि के ग्रन्थ कथाएं तथा मान्यता सभी आगम विरुद्ध होने से मन कलियत पाखण्ड और अन्य विश्वास से द्योत प्रोत है, और साथ ही स्वार्थी के स्वार्थ साधन का सु-लभमार्ग भी ।

इसके सिवाय इन लोगों ने स्वार्थ और मान्यता में कुठाराघात होने के भय से एक नया मार्ग और भी निकाला है वो यह है कि जिस ग्रंथ से अपने माने हुए पंथ को वाधा पहुंचती हो, उसके अस्तित्व एवं मान्यता से भी इन्कार कर देना, जैसे कि—

गत वर्ष (वि० सं० १९६२) लघु शतावधानी मु० श्रीमान् सौभाग्यचन्द्रजी (संतवालजी) की 'जैन प्रकाश' पत्र में 'धर्म प्राण लोकाशाह' नामक ऐतिहासिक व भाव-पूर्ण लेख माला प्रकाशित हुई, उसमें लेखक ने मूर्ति-पूजा यह धर्म का अंग नहीं है इसकी सिद्धि करने को श्रीमद् भद्रगह स्वामी रचित व्यवहार सूत्र की चूलिका के पांचवे स्वप्न 'फल का प्रमाण दिया, जिसके प्रकट होते ही मूर्ति-पूजकों के गुरु पं० न्यायविजयजी महाराज एक दम आपे से चहार होगये । और भावनगर से मूर्ति पूजक पत्र 'जैन' में हिम्मत और बहादुरी पूर्वक उन्होंने इस प्रकार छपवाया कि—

‘प्रमाणक चरित्र में लिखा है कि—सर्वे शास्त्रों की टीका लिखी थी वो सर्व विच्छिन्न होगई’ ।

उक्त कथन पर से यह तो सिद्ध हो गया कि—प्राचीन टीकाएँ जो थी वो विच्छिन्न—नष्ट—हो चुकी और अब जो भी टीकाएँ आदि हैं वे प्रायः नूतन टीकाकारों के मत पक्ष में रंगी हुई हैं और अनेक स्थलों पर मूलाशय पिछड़ मनम मी व्याख्या भी की गई है, इन मन्दिर मूर्तियों के लिये ही कितनी मनमानी की गई है इसके कुछ नमूने देखिये—

(१) आचार्य की नियुक्ति में तीर्थ यात्रा करने का बिना मूल के लिख दिया है ।

(२) सृज इतरांग, उपासकवशांग आदि की टीका में भी वृत्तिकारों ने मूर्ति पूजा के रंग में रंग कर सर्वत्र नहीं हाठे हुए भी सैकड़ों ही नहीं हजारों पर्ये पहल की बात सबक कथित आगमों से भी अधिक टीकाओं में लिख डाली ।

(३) कल्पसूत्र के मूल में साधुओं के साधुर्माण करने योग्य क्षेत्र में १३ तरह प्रकार की सुविधा देवजन की गणना की गई है उनमें मन्दिर का नाम तक भी नहीं है किन्तु टीकाकार महोदय ने मूल से बढ़कर चौदहवाँ जिन मन्दिर की सुविधा का बचन भी लिख मारा है ।

(४) आवश्यक नियुक्ति में भरतेश्वर अक्षयर्षि ने अष्टा पद पर भी अष्टपदीय स्वामी और मन्त्रिण्य के अन्य २३ ती र्थिकों के मन्दिर मूर्ति बनवाये ऐसा बचन बिना ही मूल के लिख डाला है ।

(५) उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में श्री गौतम स्वामी ने साक्षात् प्रभु को छोड़कर अष्टापद पहाड़ पर सूर्य किरण पकड़ कर चढ़े, ऐसा बिना किसी मूलाधार के ही लिख दिया है।

(६) आवश्यक निर्युक्तिकार ने श्रावकों के मंदिर बनवाने पूजा करने आदि विषय में जो अड़ंगे लगाये हैं, ये सब बिना मूल के ही भाड़ पैदा करने बराबर है।

इस विषय में और भी बहुत लिखा जा सकता है किन्तु ग्रंथ बढ़ जाने के भय से अधिक नहीं लिख कर केवल मूर्ति पूजक समाज के विद्वान पं० देचरदासजी दोशी रचित जैन साहित्य में विकार शवाधी शयेली हानि नामक पुस्तक के पृ० १-३ का अवतरण दिया जाता है, पंडितजी इन टीकाकारों के विषय में क्या लिखते हैं, जरा ध्यान पूर्वक उनके हृदयोद्धारों को पढ़िये।

“मारुं मानवु छेके कोई पण टीकाकारे मूलना आशय ने मूलना समय ना वातावरण नेज ध्यानमा लईने स्पष्ट करवो जोहण, आ रीते टीकाकरनारो होय तेज खरो टीकाकार होइ शके छे, परन्तु मूल नो अर्थ करती घखते मौलिक समय ना वातावरण नो ख्याल न करता जो आपणी परिस्थिति ने ज अनुसरिण तो ते मूलनी टीका नथी पण मूलनो मूसलकरवा जेवुं छे, हुं सूत्रोनी टीकाओ सारी रीते जोई गयो छुं, परन्तु तेमां मने घणे ठेकाणे मूलनुं मूसल करवा जेवुं लाग्यु छे, अने तेथी मने घणु दुःख थयु छे, आ संबंधे अहिं विशेष लखवुं अप्रस्तुत छे, तो पण समय आव्ये सूत्रों अने टीकाओ ए विषे हुं विगतघार हेवाल आपवानुं मारुं कर्तव्य चुकीश नहिं

तो पण आगल जणालेहा भी शीलार्क सुरिय करेहा आधा-
 रांग ना केटलाक पाठोना अथवा अर्धो उपरवी अने ऐस्य
 शब्द ना अर्थ उपर भी आप नौ कोई ओई शपया दशाके
 टीकाकारो ए अर्धो करवा मां जोतामा समयमेअ सामो राखी
 केटसु पधु ओकम कोअसु छै । हु आ बाबत मे पण स्वीकार
 करूं सु के सो महेश्वर दीकाकार महाशयोए ओ मूल नो
 अर्ध मूल नो समय प्रमाणेअ कर्षो होत तो जैन शासन मां
 वर्तमान मां जे मतमतानरो ओवा मां आवे छै ते घटा ओछा
 होत अने धर्म मे नामे आशु अमासजुं अघारं पण ओछु
 व्यापत'

आगे पृ० १३१ में लिखते हैं कि—

जे वात अगो मा मूल पाठो मां नथी ते वात तेना उर्वा-
 गोमां निर्युक्तओमा माप्योमां चृषिओ मां, अथचृषिओ
 मां अने टीकाओ मां शीरीते हाइ शके ?

इस प्रकार अब मूल की टीकाओं की यह हालत है तब स्व
 तन्त्र ग्रन्थों की तो बात ही क्या ? इन पधुओं ने मूर्ति पूजा
 को सास्त्रोक्त सिद्ध करने के लिये कितने ही नूतन ग्रन्थ बना
 आये हैं । पहाड़ पर्वतों की महिमा भी जब मर पैठ कर ज-
 ली है अन्ध को शिखा देने में कुशल ऐसे भी दिग्गजानन्दजी
 ने स्वयं अज्ञानतिमिर भास्कर नामक ग्रन्थ के पृ० १८ में
 तीर्थों का महात्म्य सो ठंकसाक है शीर्षक से स्पष्ट लिखते
 हैं कि—

बड़ी, गाम तात्काव पर्वत भूमि इत्यादिक ओ क्षेत्रों में
 नहीं हैं । तन्त्रके महात्म्य लिखने लगे तिनकी क्या कैसी २

पुरानी होती गई तैसी २ प्रमाणिक होती गई, और फल भी देने लगी ... 'यह टंकसाल अब भी जारी है' ।

श्री विजयानन्द सूरि के उक्त शब्द शत्रुजय गिरनारआदि पहाड़ों के त्रिपथ में भी अज्ञान-लागू होने हैं, क्योंकि इनके महात्म्यआदि के ग्रन्थ कथाएं तथा मान्यता सभी आगम विरुद्ध होने से मन कलिरत पाखण्ड और ग्रन्थ विश्वास से ओत प्रोत है, और साथ ही स्वार्थी के स्वार्थ साधन का सुलभमार्ग भी ।

इसके सिवाय इन लोगों ने स्वार्थ और मान्यता में कुठा-गाथात होने के भय से एक नया मार्ग और भी निकाला है वो यह है कि जिस ग्रन्थ से अपने माने हुए पंथ को वाधा पहुंचती हो, उसके अस्तित्व एवं मान्यता से भी इन्कार कर देना, जैसे कि—

गत वर्ष (वि० सं० १९६२) लघु शतावधानी मु० श्रीमान् सौभाग्यचन्द्रजी (संतवालजी) की 'जैन' प्रकाश' पत्र में 'धर्म प्राण लोकाशाह' नामक ऐतिहासिक व भाव-पूर्ण लेख माला प्रकाशित हुई, उसमें लेखक ने मूर्ति-पूजा यह धर्म का अंग नहीं है इसकी विद्धि करने को श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी रचित व्यवहार सूत्र की चूलिका के पांचवे स्वप्न फल का प्रमाण दिया, जिसके प्रकट होते ही मूर्ति-पूजकों के गुरु पं० न्यायविजयजी महाराज एक दम आपे से चहार होगये । और भावनगर से मूर्ति पूजक पत्र 'जैन' में हिम्मत और चहा-दुरी पूर्वक उन्होंने इस प्रकार छपवाया कि—

‘श्रीमद् मद्रबाहु स्वामी कृत व्यवहार सूत्र श्रुतिका क्षेत्र
महि — ए तो संतवात रचित है — बिलकुल जाली
तथा नवीन सूत्र है — कथित है — आदि ।

यद्यपि इन महात्मा का उक्त कथन एकान्त मिथ्या है
तथापि इन की वृत्तमिता का पूर्ण परिचायक यदि ये ऐसा
नहीं करे तो कथित मूर्ति पूजा की कथितता स्पष्ट होकर
इनकी जमी हुई अङ्ग कोकसी होजाय इसके सिवाय (उक्त
ग्रन्थ को कथित कहे सिवाय) इनके पास अपने वचाव का
दूसरा मार्ग भी तो नहीं है ।

अब यह क्षेत्रक व्याप का गला घोटने वाले इन व्याप
विजयजी के उक्त क्षेत्र को मिथ्या निरुद्ध करने के लिये इन्हीं
के मतानुयायी और हमारे पूर्व परिचित मूर्ति-मंडन ग्रन्थों
उत्तरकार के निम्न लिखित प्रमाण देना है कि जिन्हें देखकर
श्री व्यापविजयजी को व्यवहार सूत्र की श्रुतिका श्री मद्र
बाहु स्वामी रचित है ऐसा सत्य स्वीकार ने की सके ।
और जनता इनके असत्य कथन पर विश्वास नहीं कर या
मात्र पुक्त सत्यवात को स्वीकार करें देखिये मूर्ति मंडन
ग्रन्थोत्तर —

(१) श्री मद्रबाहु स्वामीय पक्ष श्री व्यवहार श्रुतिका मां
अविधिनो विधेय करी विधिनो आश्र कर्णो है ।

(पृ० २६३)

(२) श्री मद्रबाहु स्वामी वली व्यवहार सूत्र भी श्रुतिका
मां बोधा स्पष्ट ना अर्थ मां कहे है है — (पृ० २६४)

(३) श्री मद्रबाहु स्वामीय व्यवहार सूत्र भी श्रुतिका
मां द्रष्टु सिमी क्षेत्र स्थापन करना ल गी अर्थेत्पा मूर्ति
स्थापना मो अर्थ कर्णो है (पृ० २८६)

(४) श्री वल्लभविजयजी गण्य मालिका में लिखते हैं कि श्री भद्रबाहु स्वामी ने व्यवहार सूत्र की चूलिका में विधि पूर्वक प्रतिष्ठा करने का कहा है ।

इन प्रमाणों पर पाठक विचार करें, इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहार सूत्र की चूलिका श्री भद्रबाहु स्वामी रचित है, इसे अस्वीकार कर श्री संतवाल रचित, कल्पित तथा जाली कहने वाले स्वयं जालयाज और अविश्वास के पात्र ठहरते हैं । इस प्रकार एक सत्य वस्तु को असत्य कहकर तो श्री न्यायविजयजी ने न्याय का खून ही किया है ।

ऐसी अनेक करतूतें मात्र अपने मन कल्पित मत को जनता के गले मढ़ने के लिये की जाती है, इसलिये तत्व-गवेषी महानुभावों को इनसे सदैव सावधान रहना चाहिये ।

अब यह सेवक तत्वेच्छुक महानुभावों से निवेदन करता है कि वे स्वयं निर्णय कर, सत्य का स्वीकार करते हुए स्वपर कल्याणकर्ता बनें ।

मू० पू० प्रमाणों से मूर्ति-पूजा की अनुपादेयता

यह तो मैं पहले ही बता चुका हूं कि मूल अंगोपांगादि ३२ सूत्रों में कहीं भी मूर्ति पूजा करने, मन्दिर बनवाने, पहाड़ों में भटकने आदि की आज्ञा नहीं है, और न किसी साधु या श्रावक ने ही वैसा किया हो ऐसा उल्लेख ही मिलता है । सूत्रों में जहां २ श्रावकों का वर्णन आया है वहां २ उनके प्रभु वन्दन धर्मश्रवण, व्रताचरण, व्रतपालन, कष्ट सहन आदि का कथन तो है । किन्तु मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में तो एक अक्षर भी

मही है । कोशिक राजा प्रभु का परम भक्त था सदैव प्रभु के समाचार मंगवाया करता था । भगवान् प्राप्त करने को उसमें किन्ने ही मौकर रख छोड़े थे । जो कि प्रभु के विहा रात्रि के समाचार हमेशा पहुँचाया करें ऐसा औपचारिक सूत्र में कथन है किन्तु ऐसा स्थान पर भी यह नहीं लिखा कि कोशिक महाराज ने एक झोटासा भी सम्बर बनाया हो या मूर्ति के वर्णन पूजन करता हो इस पर से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूर्ति-पूजा शास्त्रोक्त नहीं है ।

हमारे इतने प्रयास से मूर्ति-पूजा अनावश्यक और भीत राग धर्म के बिरुद्ध प्रमायित हो चुकी, तथापि अब मू० पू० की हेयता दिखाने को मूर्ति-पूजक समाज के मान्य ग्रन्थों के ही कुछ प्रमाण देकर यह अनावश्यक सिद्ध की जाती है ।

(१) सब प्रथम श्री विजयभक्त्यु सुमित्री के विभिन्न प्रश्नोत्तर को ध्यान पूर्वक पढ़िये ।

प्रश्न—तुमने कहा है जो सूत्र में कथन करा है जो प्रकपण करे जो पुनः सूत्र में नहीं है और विचारार्थक लोगों में है । कोई कैसे कहता है और कोई किस तरह कहता है, तिस विषयक जो कोई पूछे तब गीतार्थ को क्या करना उचित है ?

उत्तर—जो यस्तु अनुष्ठान सूत्र में नहीं कथन करा है, करने योग्य है वरन् अनावश्यक है वत् और प्राचा सिपाठ की तरह सूत्र में निषेध भी नहीं करा है, और लोगों

में चिरकाल से रुढ़ि रूप चला आता है, सो भी संसार मीरु गीतार्थ स्वमति कल्पित दूषणे करी दुषित न करे' ।

(अज्ञान तिमिर भाष्कर पृ० २६४)

इस उत्तर में यह स्पष्ट कहा गया है कि—चैत्यवंदन सूत्र में नहीं कहा है, पुनः स्पष्टीकरण देखिए—

“कितनीक किया को जे आगम में नहिं कथन करी है तिनको करते हैं, और जे आगम ने निषेध नहीं करी है—चिरतन जनों ने आचरण करी है तिनको अविधि कह करके निषेध करते हैं, और कहते हैं यह क्रियायो धर्मी जनां को करणे योग्य नहीं है, किन किन क्रियायो विषे “चैत्य कृत्येषु-स्नात्रविम्ब प्रतिमाकरणादि, ’ तिन विषे पूर्व पुरुषों का पर-परा करके जो विधि चली आती है तिसको अविधि कहते हैं” ।

(अज्ञान तिमिर भास्कर पृ० २९६)

श्री विजयानन्दसूरि के उक्त कथन से यह स्पष्ट होगया कि—चैत्य कराना, स्नात्र पूजा, विम्ब प्रतिमा स्थापना आदि कृत्य सूत्रों में नहीं कहे, किन्तु केवल पूर्वजों से चली आती हुई रीति है ।

(२) संघपट्टक कार श्री जिन वल्लभसूरि क्या कहते हैं देखिये—

“आकृष्टं मुग्ध-मीनान् वडिशपि शितघट् विषमादर्श्य जैनं । तज्ज्ञाना रम्यरूपा-नयवर-कमठान् स्वेष्ट-सिद्धये विधा-प्य । यात्रा स्नात्राद्युपायैर्नमसितक-निशा जागराद्यैश्छलैश्च । श्रद्दालुर्नाम जैनैश्छलित इव शठैर्वच्यते हा जनोऽयम् ॥२१॥

अर्थात्—जिस प्रकार रसनेन्द्रिय में गन्ध महलियों को फँसाने के लिए बधिक लोग मांस को कटि में लगाते हैं, वही प्रकार द्रव्य शिंगी लाग मांसयत् एस जिन बिम्ब को दिखाकर तथा स्वर्गादि इष्ट सिद्धि कहकर, पात्रा स्नायादि उपायों से निरा जागरणादि छत्रों से यह अद्यात्त मह, पूर्ण की तरह नामधारी जैनों से ठगे जाते हैं यह दुःख की बात है ।

यह एक मू० पू० आचार्य के दुःखद हृदय के उद्गार रूप संघपट्टक का २१वाँ काव्य मूर्ति पूजा के पाकपट और स्वार्थ पिपासुओं की स्वार्थपरता को खुल्ला करने में पर्याप्त है वा स्वयं में मूर्ति पूजा की आद से मतकबी योगों में जन साधा रण को खूब धोखा दिया है अतएव मुमुक्षुओं को इससे सचेत होकर दूर ही रहना चाहिये ।

(१) स्वयं विप्रयामन्वसुरि मूर्ति पूजा को धर्म का संग नहीं मानकर लौकिक परमति ही मानते हैं देखिये जैनतत्त्वा इति पू० ४१८—

‘विप्र उपर्शात् करणं वाली अह पूजाहै तथा मोठा अम्बुदप पुष्य की साधने वाली अमपूजा है, तथा ‘मोह की बाता भाव पूजा है’ ।

इसमें केवल भाव पूजा को ही मोह बाता मानी है और भाव पूजा का स्वरूप ये ही पू० ४१६ पर लिखते हैं कि—

‘इहा सब ओ भाव पूजा है सो भी जिनाहा का पाहना है’ ।

इसी तरह श्री हरिभद्रसूरि भी लिखने हैं कि—

‘आपणी मुक्ति ईश्वरनी आज्ञा पालवा मांज छे.’ ।

(जैन दर्शन प्रस्तावना पृ० ३३)

फिर पूजा का स्वरूप भी हरिभद्रसूरि क्या बताते हैं,
देखिए—

‘पूजा पटले तेओनी आज्ञानुं पालन’ ।

(जैन दर्शन प्र० पृ० ४१)

इस प्रकार प्रभु आज्ञा पालन रूप भाव पूजा ही आत्म-
कल्याण में उपादेय है, किन्तु मूर्ति पूजा नहीं । और भाव
पूजा में साधुवर्ग भी पंच महाव्रत, ईर्याभाषादि पंच समिती
तीन गुप्ति, और ज्ञानादि चतुष्टय का पालन करके करते हैं,
आवक वर्ग सम्यक्त्व पूर्णक बारह व्रत तथा अन्य त्याग प्र-
त्याख्यानदि करके करते हैं, यह भाव पूजा अवश्य मोक्ष
जैसे शाश्वत सुख की देने वाली है । और मूर्ति पूजा तो
आत्मकल्याण में किसी भी तरह आदरणीय नहीं है, यह तो
उल्टी आसन्नद्वार का जो कि—आत्मा को भारी बनाकर
आत्मकल्याण से वंचित रखता है, सेवन कराने वाली है,
जिसमें प्रभु आज्ञा मंग रूप पाप रहा हुआ है, अतएव
त्यागने योग्य ही है ।

(४) श्री सागरानन्दसूरिजी ‘दीक्षानुं सुन्दर स्वरूप’ नाम
पुस्तिका के पृ० १४७ पर लिखते हैं कि—

‘श्री जिनेश्वर भगवाननी पूजा वगैरे नुं फल चारित्र
धर्मेना आराधन ना लाखमां अंशे पण नथी आवतुं, अने
तेथी तेवी पूजा आदिने छोड़ी ने पण भाव धर्म रूप चारित्र
अगीकार करवा मां आवे छे’ ।

अब हमारे पाठक स्वयं विचार कर निर्णय करें कि—
कहाँ तो धर्म का अङ्ग आतिथारोपन और कहाँ उसके लाभमें
अथ में भी नहीं आने वाली मूर्ति पूजा ? वास्तव में तो मूर्ति
पूजा में अनन्तमें मांग भी धर्म नहीं है किन्तु अधर्म ही है
अतएव त्यागने योग्य है ।

(५) पुनः सागरानन्दसूरिजी इसी ग्रन्थ के पृ० १७ में एक
श्रीमङ्गी द्वारा भाव निक्षेप को ही बन्धीय पूजनीय सिद्ध
करते हैं देखिये वह श्रीमङ्गी—

एक तो चाँदी मो कटको जो के बोखी चाँदी मो के
झुता रुपियां भी महोर छाप न होय तो तेने रुपियो कहवाय
महीं अने ते बहव तरीके उपयोग मां आनी शक नही ?
जीओ रुपियानी छाप चाँदा ना कटका उपर होय तो पक्ष त
चाँदा मो कटको रुपिया तरीके आनी शक नही जीओ चाँदा
ना कटका ऊपर पैछानी छाप होय तो ते रुपियो नख गवाय
अने बोधो मांगोज एको के केमां चाँदी बोखी अने छाप
पक्ष रुपियानी सार्वा होय तेमोज रुपियां मां रुपिया तरीके
भ्यवहार घर शक अने बहव मां चाखे ।

यही बदाहरण श्री हरिमत्सूरि ने आबश्यक वृत्ति में
बन्धनाभ्यसन की व्याख्या करते हुए बन्धीय पर भी दिया
है ।

यद्यपि बहू श्रीमङ्गी लेखक ने मूर्ति पूजा पर नहीं ही
तथापि बहू श्रीमङ्गी पर सं यह तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है
कि—चतुर्थ मंग अर्थात् सच्चात् भाव निक्षेप युक्त मनु ही कार्य
साधक है और मूर्ति पूजा तो तबि के दुकड़े पर रुपये २२५
की छाप वाले दूसरे मंग की तरह एकदम विरर्थक है । मु-
मुमुमों को इस पर खूब मनन करना चाहिये ।

(६) चौदह पूर्वधर श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी ने व्यवहार सूत्र की चूलिका में चन्द्रगुप्त राजा के पांचवें स्वप्न के फल में भविष्य में कुगुरुओं द्वारा प्रचलित होने वाली मूर्ति पूजा की भयंकरता दिखाते हुए लिखा है कि—

“पंचमए दुवालस फणि संजुत्तो, कएहे अहि दिट्ठो, त-
स्सफलं—दुवालसवास परिमाणो दुक्कालो भविस्सइ तत्थ
कालिय-सुयप्पमुहाणि सुत्ताणि वोच्छिज्जिसंति, चेइयं ठवा-
वेइ, दव्वहारिणो मुण्णिणो भविस्सति, लोभेण माला रोदण
देवल-उवहाण-उज्जमण जिण विम्व-पइट्ठावण विहिं पगासि-
स्सति, अविहि पंथे पडिसइ तत्थ जे केइ साहू साहूणिओ
सावय-सावियाओ, विहि-मग्गे वुहिसंति तसि बहण
हिलणाणं, णिंदणाणं, खिसणाणं, ठारहणाणं, भविस्सइ” ।

अर्थात्—पाचवें स्वप्न में द्वादश फलों वाले काले सर्प को जो देखा है उसका फल यह है कि—

भविष्य में द्वादश वर्ष का दुष्काल पड़ेगा, उस समय का लिका आदि सूत्र विच्छेद जायेंगे, द्रव्य रखने वाले मुनि होंगे, चैत्य स्थापना करेंगे, लोभ के वश होकर मूर्ति के गले में माला-रोपण करेंगे, मन्दिर, उपधान, उजमण करावेंगे, मूर्ति स्थापन व पतिष्ठा की विधि प्रकट करेंगे, अत्रिधि मार्ग में पड़ेंगे, और उस समय जो कोई साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका, विधि मार्ग में प्रवर्तने वाले होंगे, उनको बहुत निंदा, अपमान, अप शब्दादि से हीलना करेंगे ।

प्रिय पाठक वृन्द ! श्रीमद्भद्रबाहु स्वामी का उक्त भविष्य कथन बराबर सत्य निकला, ऐसा ही हुआ, और अब तक बरा-बर हो रहा है ।

श्रीमद् मद्रबाहु स्वामी के उक्त कथन को बताते बाली भी व्यवहार सूत्र की शूलिका पर भी व्याय बिजयजी इनका मत है कि—यदि इनकी चलती तो उक्त शूलिका की समस्त प्रतिये एकत्रित कर हवन कुण्ड की भेट कर देते, किन्तु विवशता बश सिवाय मिथ्या भाष्य के अन्य कोई उपाय ही नहीं सूझता, जिसका परिचय पहले करा दिया गया है ।

(७) स्म्बोध प्रकरण में इग्निद्र सूत्र लिखत है कि—

संनिहि मद्रा कर्म बल, फल, कुसुमाद्र रुद्र सविच
वेद्व मद्रावासं पूमाःमाद्र निष्कवासिच । देवाद्र द्रव्यभोग
विष्णुद्र साक्षाद्र करणच ॥

अर्थात्—प्रथम रुचिक उक्त फल फूलों का आगम पूजा के लिए हुआ वैश्यवासऔर वैश्य पूजा बली देव द्रव्य भागना, जिन मन्दिरादि बनवाना जाता ।

(८) स्म्बेद्र बोलाबली में लिखा है कि—

मद्ररीप्पवाद्रु जे पद्र नयः दीसद्र बहुबियोर्दि विष्णुगद्र
कारव्याद्र सो धम्मो रुच विरुद्धो अधम्मोच ।

अर्थात्—श्लोक में मद्ररीप्प वावाह से गठानुगतिक चलन जाता समूह अधिक होता है वे जिन मन्दिरादि करवाना यह सूत्र विवश अधर्म को भी धर्म मानने बाधे हैं ।

(९) विवाह शूलिका के १ वें पाहुने के ८ वें उद्देशे में लिखत है कि—

जइणं भंते जिण पडिमाणं वन्दमाणे, अच्चमाणे सुय-
धम्मं चरित्तं धम्मं लभेज्जा ? गोयमा ? णो मट्ठे समट्ठे ।
सेकेणट्ठेणं भते एवं वुच्चइ ? गोयमा ? पुढवी कायं हिंसइ,
जाव तस कायं हिंसइ ।

अर्थान्-श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि-महो भगवान् !
जिन प्रतिमा की वन्दना अर्चना करने से क्या श्रुत धर्म चारित्र्य
धर्म की प्राप्ति होती है ? उत्तर-यह अर्थ समर्थ नहीं । पुनः
प्रश्न-ऐसा क्या कहा गया ? उत्तर-इसलिण कि-प्रतिमा पूजा
में पृथ्वीकाय से लेकर प्रसकाय तक के जीवों की हिंसा होती
है ।

इस प्रकार विवाह चूलिका में भी मू० पू० द्वारा सूत्र
चारित्र्य धर्म की हानि बताई गई है ।

यद्यपि विवाह चूलिका से उक्त सम्वाद प्रभु महावीर और
श्री गौतम स्वामी के बीच होना पाया जाता है, किन्तु यह
ध्यान में रखना चाहिए कि-ग्रन्थकारों की यह एक शैली है,
जो प्रश्नोत्तर में प्रसिद्ध और सर्व मान्य महान् आत्माओं को
खड़ा कर देते हैं । वर्तमान के बने हुए कितने ही ऐसे स्वतंत्र
ग्रन्थ दिखाई देते हैं जिनमें उनके रचनाकार कोई अन्य महात्मा
होते हुए भी प्रश्नोत्तर का ढांचा भगवान् महावीर और श्री
गौतमगणधर के परस्पर होने का रचा गया है, ऐसे ही जो
सूत्र ग्रन्थ पूर्वधर आदि आचार्य रचित हैं, उनमें भी ऐसी भी
शैली पकड़ी गई है, तदनुसार विवाह चूलिका के रचयिता श्री
भद्रबोद्ध स्वामी ने भी जनता को भगवदाज्ञा का स्वरूप बताने
के लिये उक्त कथन का श्री महावीर और गौतम गणधर के

बीछ होना बनाया है किन्तु वास्तव में यह रचना ऐसी ही है, श्री महावीर गीतम की ठीक से सत्य नहीं क्योंकि-प्रभु की उपस्थिति के समय तो यह प्रथा थी ही नहीं। इसीलिये किसी प्रमादिक और गरुधर रचिन अंग शास्त्रों में भी ऐसा उल्लेख नहीं है, अतएव इस कथन को साक्षात् प्रभु और गरुधर के बीच होना मानना मूल है, तो भी मूर्ति पूजा के निशेध में तो जब कथन बहुत स्पष्ट है, इस पन्थ को मूर्ति पूजक लोग भी मानते हैं, इसके सिवाय अब किसी प्रमाद की आवश्यकता नहीं रहती।

(१०) महा निशीथ सूत्र का तीसरा और पाँचवाँ अण्वयन तो इस मूर्ति पूजा का जड़ कहने में कुछ भी ग्लानता नहीं रखता जो कि—मूर्ति पूजकों का मान्य पन्थ है।

इस तरह मूर्ति पूजक मान्य पन्थों से भी मूर्ति पूजा निषिद्ध रहती है, आत्माधी बन्धुओं को इसका त्याग कर इतना समय आत्म कल्याण की साधक सामायिक में लगाना चाहिये। सू० पू० से सामायिक करना श्रेष्ठ है।

द्रव्य पूजा (अथ सच्चिदा या अविष्ट वस्तुओं से पूजा करना) सावध-हितायुक्त है, साथ ही अर्पण और निरर्पण भी। अतएव इसका त्याग कर भाव पूजा का सामायिक कर आत्म साधन करना चाहिये भावकों की सामायिक थोड़े समय का देशविरती चारित्र्य है, अतएव इसका आराधन करना स्वल्प कालका चारित्र्य धर्म पालना है। स्वयं विजयानन्द सूरि स्वीकार करते हैं कि—

जब भावक सामायिक करता है, तब साधु की तरह हो जाता है, इस वास्ते भावक सामायिक में देव स्नातन पूजादिक, न करें क्योंकि भाव स्तव के वास्ते द्रव्य स्तव करना है सो

भाविरतव सामायिक में प्राप्त होजाता है, इस वास्ते श्रावक सामायिक में द्रव्यस्तवरूप जिन पूजा न करें ।

जैनतत्त्वादर्श पृ० ३७१)

इसके सिवाय “पर्यूपण पर्वनी कथाओं के पृ० ६६ में भी लिखा है कि—

वली सामायिक करता थकां सावद्य योग नो त्याग थाय, माटे सामायिक श्रेष्ठ छे, तथा सामायिक करनार ने मात्र पूजा-दिक ने विपे पण अयिकार नथी, अर्थात् द्रव्यस्तव करण नी योग्यता नथी, ते सामायिक उदय आत्रव् महा दुर्जम छे ।

इन दो प्रमाणों के सिवाय सामायिक की उत्कृष्टता में और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं, किन्तु ग्रन्थ गौरव के भय से यहां इतना ही बताया जाता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—मूर्ति पूजक भाइयों के कथन से भी मूर्ति पूजा से सामायिक अत्यधिक श्रेष्ठ है । एक साधारण बुद्धि वाला भी समझ सकता है कि—मूर्ति पूजा सावद्य-हिंसाकारी-व्यापार है, और सामायिक में सावद्य व्यापार का त्याग हो जाता है, इस नग्न सत्य को मूर्ति पूजक भी स्वीकार कर चुके हैं, इसलिए मूर्ति पूजक समाज के साधुओं को चाहिये कि—श्रावकों को सावद्य मूर्ति पूजा छोड़ कर सावद्य त्याग रूप सामायिक करने का ही उप-देश करें, किन्तु जब मनुष्य मतमोह में पड़ जाता है तब हेय को छोड़ने योग्य समझकर भी नहीं छोड़ता है, यही हाल ऊपर में सामायिक को श्रेष्ठ कहने वाले श्री विजयानन्दजी का भी हुआ पहले सामायिक की प्रशंसा की और फिर ये ही आगे बढ़ कर सामायिक वाले श्रावक को सामायिक छोड़कर पूजा के लिए फूल गूथने आदि की आज्ञा प्रदान करते हैं । देखिये—

* पूजादिक सामाग्री के अभाव से द्रव्य पूजा करनी असम्भव है इस वास्ते सामायिक पारके काया से जो कुछ फूल गूँथना दिक कठ होवे सो करे ।

प्रश्न—सामायिक त्याग के द्रव्य पूजा करनी उचित नहीं ?

उत्तर—सामायिक तो तिसके रक्षाधीन है । चाहे जिस वस्तु कर खेवे परन्तु पूजा का योग उसको मिलना दुर्लभ है क्यों कि—पूजा का मंत्राण तो संघ समुदाय के आधीन है कहेई होता है इस वास्ते पूजा में विरोध पुण्य है । (मनउस्वादर्थ पृ० ४१७)

इस प्रकार वेही विजयानन्दजी यहाँ भावस्तव रूप सामायिक को त्याग कर युक्ति से साबध पूजा में प्रवृत्त होने की आज्ञा प्रदान करते हैं एक सामायिक का उदय आना दुर्लभ कहता है जो दूसरा उस्ता पूजा का योग कठिन बताता है । इस प्रकार मन गढ़त लिख बालने वालों को क्या कहा जाय ? श्रीमान् विजयानन्द सूरि के प्रम्थम्यानुसार तो सामायिक में ही फूल गूँथ खेने चाहिये, क्योंकि हम्हीं का कथन (सम्यक्त्व शक्योच्चार में) है कि—फूलों से पूजना फूलों की वषा करना है । आश्चर्य तो यह है कि—सम्यक्त्व शक्योच्चार में तो इस प्रकार लिगा भीर कैम तरशार्श में सामायिक में द्रव्य पूजा का निषेध भी कर दिया !

वास्तव में सामायिक उदय आना ही कठिन है इसमें मन बचन व शरीर क योगोंको आरम्भादि सायय व्यापार से हटा कर निगमम्भ ऐसे सम्बन्ध में लगाना होता है, आ कि उतने समय का आग्नि धर्म का आगधन है । गृहस्थ लोगों से

आरम्भ परिग्रह आदि का छूटना ही अधिक कठिन है, इसलिए सामायिक का उदय में आना ही दुर्लभ है।

मूर्तिपूजा में दुर्लभता कैसी ! भट से स्नान किया, फूल तोड़े, केशर चन्दनादि घिस कर पूजा की। ऐसे आरम्भ जन्म कार्य से तो चित्त प्रसन्न हो होता है, और यह प्रवृत्ति भी सब को सरल व सुखद लगती है, इसमें दुर्लभता की बात ही क्या है ?

धर्म दया में है हिंसा में नहीं

महानुभावो ! खरा धर्म तो इच्छाओं को वश कर विषय कषाय और आरम्भ के त्याग में तथा प्राणी मात्र की दया में है। इसके विपरीत निरर्थक हिंसा भव भ्रमण को बढ़ाने वाली होती है। मात्र एक दया ही ससार से पार करने में समर्थ है, यदि शंका हो तो प्रमाण में आगम वाक्य भी देखिये—

(१) श्री आचारांग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में जाइ मरण मोयणाए कह कर धर्म के लिए की गई पृथ्वी कायादि जीवों की हिंसा को अहित एव अवोधी कर बताई है, और प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि—जो इस प्रकार की हिंसा से त्रिकरण त्रियोग से निवृत्त है, उसे ही मैं संयमी साधु कहता हूँ।

(२) सूत्र कृतांग अ० ११ गा० ६ से मौक्ष मार्ग की प्ररूपणा करते हुए प्रभू फरमाते हैं कि—

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण रुक्खा स-वीयगा ॥ ७
अहावरा तसा पाणा, एव छकाय आहिया ।
एतावण जीवकाए, खावरे कोइ विज्जइ ॥ ८

सध्याहिं ब्रह्मजुतिहिं, मतिमं पङ्क्तिहिं ।

सध्वं ब्रह्मकर्म दुःकृत्याय अतो सध्वे ब्रह्मसया ॥८

एवं कृतायिषो सारं, ज नहिंसइ किंचयं ।

ब्रह्मिमा समयं खलु पतावशु वियाशिया ॥९०

उद्धं ब्रह्मेय तिरिय, केकइ तस धावरा ।

सम्बरय विरति कुज्जा सति शिम्बाय माधियं ॥९१

अर्थात्—पृथ्वी, अप तेजसवायु वनस्पति बीज सहित
तथा व्रस प्राणी इस तरह का कथकप जीव कहे गये हैं, इनके
सिवाय संसार में कोई जीव नहीं है इन सब जीवों का बुद्ध
अप्रिय है ऐसा बुद्धिमानों से बुद्धिमान का बुद्धिमान है । ब्रह्मिमा
और समता ही मुक्ति मार्ग है ऐसा समझ कर किसी जीव
की हिंसा नहीं करे यही धर्मी का सार है । कर्ष्य अथो और
तिर्यक दिशा में जो जीव रहन बाधे हैं उनकी हिंसा से निवृत्ति
करने को निर्वाण मार्ग कहा है ।

(३) “दाकाय सद्धं अमयप्ययार्थ” । सूत्रकृतांग भु० २
अ० १ ।

(४) पुन सूत्र कृतांग भु० २ अ० १७ में—

“ अ इम तस धावरा पाणा भवति तेसो मयं समारमसि,
या अणुण हिं समारभावेति अणुणं समारमंते न समणु आणति
इति से महतो आयाशाओ उवसंति उवसंते उवद्विप पङ्क्तिवित्ते
से भिफ्यू ।

(५) प्राता घम कर्मांग में मेषकुंवा न हाथी के भय में
एक पशु की दया की जिमसे संसार परिण कर दिया स्वयं
सूत्रकर्त्त ने वहां ‘आयाशाओ उवसंति’ आदि से संसार को परि
मित कर देने का कारण दया ही बताया है ।

(६) ज्ञाता धर्म क्या अ० ८ में भगवती मल्लि कुमारी ने चोक्खा परिव्राजिका को कहा कि—जिस प्रकार रक्त में सना हुआ वस्त्र रक्त से धोने पर शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार हिंसा करने से धर्म नहीं हो सकता ।

(७) प्रश्न व्याकरण के प्रथम सम्बर द्वार में स्वयं श्रीगणधर महाराज ने दया की महिमा की है और साथ ही दयावानों की महिमा करते हुए दया के गुण निष्पन्न ६० नाम भी बताये हैं । उक्त प्रकरण में यहां तक लिखा गया है कि—श्री सर्वज्ञ प्रभु ने “ समस्त जगत् के जीवों की दया अर्थात् रक्षा के लिए ही धर्म कहा है ” ।

(८) उत्तराध्ययन सूत्र अ० १८ में सगर चक्रवर्ती का दया से ही मोक्ष पाना बताया है, यथा—

सगरो वि सागरत्त, भरह वासं नराहिवो ।

इस्सरियं केवल हिच्चा, दयाप परिणिव्धुष ॥

उक्त प्रमाणों से हमारे प्रेमी पाठक यह स्पष्ट समझ सकें होंगे—कि जैनाग्रहों में आत्मकल्याण की साधना के लिये दया को सर्व प्रधान और अत्यधिक महत्व का स्थान दिया गया है, किन्तु मूर्ति पूजा के लिए तो एक बिन्दु मात्र भी जगह नहीं है,

क्योंकि—यह दया की विरोधिनी और हिंसा जननी है । अब इस दया की महिमा में कुछ प्रमाण मूर्ति पूजक ग्रन्थों के भी देखिये, जिन में कि ये धर्म के कार्यों में भी हिंसा करना बुरा कहते हैं—

(१) योगशास्त्र के प्रकाश २ में श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं ।

हिंसा विघ्नप्रय आयते, विघ्नशान्ति कृताऽपि हि ।

कुलाचारः प्रियाप्येषा, कृता कुल-विमाणिनी ॥ २६ ॥

अर्थान्—विघ्न शान्ति या कुलाचार की बुद्धि से भी की गई हिंसा विघ्नवर्द्धक एवं कुल का लय करम वाली होती है ।

(२) पुनः हेमचन्द्राजी उक्त पद्य और उक्त ही प्रकार के श्लोक ३१ में लिखते हैं कि—

दमो वेध गुरुपास्ति-दानमध्ययनं तपः ।

सर्वमप्येतद् फलं हिंसां श्वस परित्यजेन् ॥ ३१ ॥

अर्थान्—जो हिंसा का त्याग नहीं करे तो वेध गुरु की सेवा और दान, इन्द्रिय दमन, तप अध्ययन, यह सब निष्फल है ।

(३) फिर आगे आतीसवाँ श्लोक पढ़िये—

धर्म शील दया मूलं, हित्वा धर्म अगदितं ।

अहो ! हिंसापि धर्माय अगदे मन्वदुःखिभिः ॥ ४० ॥

अर्थान्—शान्ति शील व दया मूलके अगदितकारी धर्म को छोड़कर मन्वदुःखि बाबू साग धर्म के लिए भी हिंसा कइत हैं यह महदाश्चर्य है ।

(४) श्री हेमचन्द्राचार्य मन्दिर मूर्ति से तप संयम की महिमा अधिक बताते हुए प्रकाश श्लोक १०८ के विवेचन में लिखते हैं कि—(योगशास्त्र भा० पृ० १३७)

कञ्चन-मणि सोबाधं धर्म सहस्त्रो-सिन्धुं मुबध-तलं ।

जो करिछह जिबहट, तभी बि तब-संजमो अहिमो ॥

अर्थान्—सोने व मणिमय पायरी वाला हजारों स्तंभों से उन्नत तबे वाला भी यदि कोई जिनमन्दिर बनावे तो उससे भी तप संयम श्रेष्ठ है ।

(५) योग शास्त्र भाषान्तर आवृत्ति चौथी पृ० १३७ य० १० में १०८ वें श्लोक का विवेचन करते हुए श्री केशर विजयजी गणि लिखते हैं कि—
वहेतर छे के प्रथमथीज धर्म निमित्ते आरम्भ न करवो”

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के ज्ञानावर्णाव ग्रन्थ के आठवें सर्ग में अहिंसाव्रत के विवेचन का कुछ अवतरण पढ़िये—
अहो व्यसन विध्वस्तैर्लोकः पाखण्डिभिर्वलात्
नीयते नरकं घोरं, हिंसा शास्त्रे पदेशकः ॥ १ ॥
शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः ।
कृतः प्राणभृतां घातः, पातयत्यविलंबितं ॥ १८ ॥
चारु मंत्रौषधानांवा, हेतो रन्यस्यवा कर्वाचत् ।
कृता सती नरैर्हिंसा, पातत्य विलंबितं ॥ २७ ॥
धर्मबुद्ध्याऽधमैः पापं जंतु घातादि लक्षणम् ।
क्रियते जीवितस्यार्थं पीयते विषमं विषं ॥ २६ ॥
अहिंसैव शिवं सूते दत्तेच, त्रिदिव अय ।
अहिंसैव हितं कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥ ३३ ॥
अहिंसैकापि यत्सौख्यं, कल्याणमथवाशिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं, तपः श्रत यमोत्करः ॥ ४७ ॥
अर्थात्—

धर्म तो दयामय है किन्तु स्वार्थी लोग हिंसा का उपदेश देने वाले शास्त्र रचकर जगत जीवों को बलात्कार से नर्क में लेजाते हैं यह कितना अनर्थ है ? ॥ १६ ॥

अपनी शक्ति के लिये या देवपूजा अथवा यज्ञ के लिये जो प्राणी हिंसा करते हैं वह हिंसा उनको शीघ्र ही नर्क में लेजाने वाली होती है ॥ १८ ॥

देवपूजा, या मन्त्र अथवा औषध के लिये अथवा अन्य किसी भी कार्य के लिये की हुई हिंसा जीवों को नर्क में लेजाती है ॥ २७ ॥

जो पापी धर्म बुद्धि में हिंसा करते हैं वे जीवन की इच्छा से विपरीत हैं ॥ २४ ॥

यह अहिंसा ही मुक्ति और स्वर्ग लक्ष्मी की वाता है यही दित करती है, और समस्त आपत्तियों का नाश करती है । ॥ ३३ ॥

कैसी अहिंसा ही जीवों को जो सुख कल्याण एवं अमृतद्वय देती है वह तप स्याध्याय और यमनियमादि नहीं देकर सकते ॥ ७७ ॥

इतने स्पष्ट प्रमाणों से अहिंसामय धर्म ही आत्मा की शक्तिदाता सिद्ध होता है । इससे प्राणी हिंसा मय मूर्ति पूजा निरर्थक और अहितकार ही पाई जाती है । यदि आप्त्य व अतुरसेमजी शास्त्री के शब्दों में कहा जाय तो पाण्डवी की अर्द्ध अतिक्रान्त में मूर्ति पूजा ही है । इस मूर्ति पूजा के आधार से कितनी ही अंध भया फैली हुई है और कई प्रकार की अंध भयाओं की यह जननी भी है । कितनी इत्या धर्म के नाम पर मूर्ति-पूजा द्वारा हुई और हो रही है कितनी अन्य किसी भी कारण से नहीं हुई व न होगी । इसी मूर्ति पूजा के नाम पर होती हुई हिंसा को मिटाने के लिये श्री रामचन्द्र शर्मा को अपने पक्षिदान करने की बारबार

४०—अंतिम निवेदन

इतने कथन के श्रवण में अपने मूर्ति-पूजक ग्रन्थों से समस्त निवेदन करता हूँ कि वे स्वार्थ की चांचली और श्रवण समाज पर मिथ्या आक्रमण करना छोड़कर शुद्ध हृदय से विचार करें। और जिस प्रकार दयादान सत्य सयम आदि हितकर धर्म की पुष्टि और प्रमादिकता सिद्ध की जाती है वही प्रकार मूर्ति पूजा की सिद्धि कर दिखायें और यदि यह कार्य आगम सम्मत हो तो वह भी जाहिर कर दें कि अमुक समय मान्य मूल सिद्धान्त में सर्वत्र प्रभु ने मूर्ति पूजा करने की आज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार विधिवाद के स्पष्ट प्रमाण पेश करें, कथाओं की व्यर्थ ओढ़ लेना और शब्दों की निरर्थक खींच तान करना यह तत्त्वज्ञानियों का कार्य नहीं किन्तु अभिनिवेश में उन्मत्त मताग्र व्यक्तियों का है। इसलिये आगमों के विधिवाद दर्शक प्रमाण ही पेश करें, कथाओं की ओढ़ और शब्दों की खींचतान अथवा आगम आज्ञा की अवहेलना करने वाले ग्रन्थों के प्रमाण तो किसी मोल्ले और प्रामाण्य मन्त्रों को समझाने के लिये ही रख द्योवें। मैं आप लोगों की सुविधा के लिये आप ही की मूर्ति-पूजक समाज के प्रतिमाशानी विद्यान प० देवरदासजी बोधी रचित जैन साहित्य में विकार धराधी धरैसी 'हामि' नामक पुस्तक में पंडितजी के विचार आपके सामने रखता हूँ जिससे आपको तथ्य निर्णय में सरसतान्दो देखिये पृ० १२५ से—

‘मूर्तिवाद चैत्यवाद पछीनो छे, एटले तेने चैत्यवाद जेटलो प्राचीन मानवाने आपणी पासे एक पण एवु मजबूत प्रमाण नथी के जे शास्त्रीय (सूत्र विधि निष्पन्न) होय वा ऐतिहासिक होय, आम तो आपणे कुलाचार्यो शुद्धा मूर्तिवाद ने अनादि नो ठराववानी तथा वर्द्धमान भाषित जणाववानी वणगा फूंकवा जेवी वातो कर्या करीए छीए, पण ज्यारे ते वातो ने सिद्ध करवा माटे कोई ऐतिहासिक प्रमाण वा अंग सूत्रनुं विधि वाक्य मांगवा मा आवे छे त्यारे आपणी प्रवाह बाही परपरानी ढाल ने आगल धरीए छीए अने वचाव माटे आपणा घडिलो ने आगल करीए छीए मै घणी कोशिय करी तो पण परपरा अने बाबा वाक्यं प्रमाण सिवाय मूर्तिवाद ने स्थापित करवा माटे मने एक पण प्रमाण वा विधान मली शक्युं नथी वर्तमान कालमां मूर्ति पूजा ना समर्थन मां केटलीक कथाओ ने (चारण मुनि नी कथा, द्रौपदी नी कथा, सूर्याभ देवनी कथा अने विजयदेवनी कथा) पण आगल करवा मां आवे छे, किन्तु वाचकोए आ वावत खास लक्षमा लेवानी छे के विधि ग्रन्थोंमां दर्शावातो विधि आचार ग्रन्थों मां दर्शावातो आचार विधान खास शब्दो माज दर्शाववामां आवे छे, पण कोइनी कथाओ मा थी के कोइना ओठां लइने अमुक २ आचार वा विधान उपजावी शकातो नथी । (आगे पृ० १२७ में) • ते छुता तेमां जे विधान नी गंध पण न जणाती होय ते विधान ना समर्थन माटे आपणे कथाओ ना ओठां लइए ने कोई ना उदाहरणों आपीए ते वावत ने हु ‘तमस्तरण’ सिवाय बीजा शब्द थी कही शकतो नथी, ‘ हुं हिम्मत पूर्वक कही शकुं हुं के मै साधुओ तेम आवकों माटे देव दर्शन के देव पूजन नुं विधान कोई अंग सूत्रोंमां जोयु नथी, वांच्यु नथी

एटलुंज नहीं पण मगपती बगेरे सुबोमा केटलाक भाषको
नी कथाओ आबे से तेमा तेओमी खर्यानी पण नोप से पर
तु तेमा एक पण मण्ण एओ मखातो मयी के से ऊपर यी
आपखे आपणी बमी करेली देय पूजननी अमे तदाभित देव
द्रव्यमी मान्यतामे ठकावी शकीप ।

हु आपणी समाज ना पुरंधरो मे मन्नता पूयक विमग्नि
ककं हुं के तेओ ममे ते बिपेनु एक पण प्रमाख या प्राचीन
विधान—विधि बाध्य यताबरो तो हु तेओमो घसोड झली
यइय । “ “ (आगे पृ० १३१ में) “ हुतो त्या सुषी मातु
हुं के अमण प्रण्यकारो ओओ पण महावत ना पालक के
सबैधा हिंसा मे करता मयी करावता मयी, अमे तेमा सम्म
ति पण आपता मयी, ओओ माटे कोह जातनो द्रव्यस्तव
विधेय रूपे होइ शकतो मयी तेओ हिंसा मूलक आ मूर्तिवाद
ना विधान मो अमे तदावकम्मी देय द्रव्यवाद ना विधान मो
बहसेक गी पीते करे । ”

तएवेकहुक पाठक महोदयो ! मूर्ति पूजक समाज के एक
प्रसिद्ध विद्वान के उक्त उदस्य विचार मनन करने में आपको
भाटी सहायता देंगे इस पर से आप अच्छी तरह से समझ
सकेंगे कि—हमारे मूर्ति पूजक बहुत सम्मान से वञ्चित हैं
इन्हें सत्यासत्य के निर्णय करने की क्षमता नहीं है इसीसे ये
लोग आँके बंदकर सून तथा कारिष धर्म का घातक संसार
बर्ख़ा एवं सम्मक्षण को नृपित करने वाली पेंसी मूर्ति पूजा
के बककर में पड़े हुए हैं ।

पेंसी हालत में आपका यह कर्तव्य हो जाता है कि—
प्रथम आप स्वयं इस विषय को अच्छी तरह समझ लें, फिर

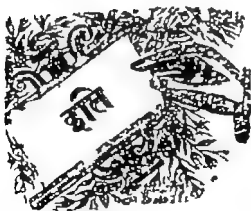
अपने से मिलने वाले सरल बुद्धि के मूर्ति पूजक बंधुओं को केवल परोपकार बुद्धि से योग्य समय नम्र शब्दों से समझाने का प्रयास करें। आवेश को पास तक नहीं फटकने दें। तो आशा है कि—आप कितने ही भद्र बंधुओं का उद्धार कर सकेंगे, उन्हें शुद्ध सम्यक्त्वी बना सकेंगे, और वे भी आपके सहयोग से शुद्ध धर्म की श्रद्धा पाकर अपनी आत्मा को उन्नत बना सकेंगे।

इस छोटीसी पुस्तिका को पूर्ण करने के पूर्व मैं मूर्ति पूजक विद्वानों से निवेदन करता हूँ कि—वे एक बार शुद्ध अन्तःकरण से इस पुस्तक को पठन मनन करें, उचित का आदर करें और जो अनुचित मालूम दे, उसके लिये मुझे लिखें, मैं उनकी सूचना पर निष्पक्ष विचार करूंगा, और योग्य का आदर एवं अयोग्य के लिये पुनः समाधान करने का प्रयास करूंगा। मूर्तिपूजक विद्वान लोग यदि मूर्तिपूजा करने की भगवदाज्ञा ३२ सूत्रों के मूल पाठ से प्रमाणित कर देंगे, तो मैं उसी समय स्वीकार कर लूंगा।

यदि इस पुस्तिका में कहीं कटु शब्द का प्रयोग हो गया हो तो उसके लिये मैं सविनय क्षमा चाहता हुआ निवेदन करता हूँ कि—पाठकवृन्द कृपया इसके भावों पर ही विशेष लक्ष्य रखते हुए आई हुई शाब्दिक कटुता को कटु औषधि के समान व्याधिहर मान कर ग्रहण करें, अप्रसन्न नहीं होवें, इस तरह मनन करने पर आपकी श्रद्धा शुद्ध होकर आपको विशुद्ध जैनत्व के उपासक बना देगी जिससे मेरा प्रयत्न भी सफल होगा।

अन्त में भी जिमवाणी से विपरीत कुछ भी शत्रु पाप्य या अर्थ दिखा गया हो तो मिथ्या जुक्त वेता हुआ, भाग मझ बहुभुतों से नष्ट विमती करता हूँ कि ये दुष्टा भूल का समझा देने का कष्ट स्वीकार करें ।

॥ सिद्धा सिद्धि मम विसंतु ॥



॥ कव्वाली ॥

ब्रह्माना धर्म का करके, कुगुरु हिंसा बढ़ाते हैं ।
 विभ्य पे, वील, दल, जल, फूल, फल माला चढ़ाते हैं ॥ १ ॥
 नेत्र के विषय पोषन को, रचे नाटक विविध विधि के ।
 हिंडोला रास और साँजी, मूढ़ मण्डल मंडाते हैं ॥ १ ॥
 करावें रोशनी चंगी, चखन की चाह पूरन को ।
 बत्ता देवें भगति प्रभु की, आप मौजें उड़ाते हैं ॥ २ ॥
 लिखा है प्रकट निशि भोजन, अभक्ष्यों में तदपि भोंदू ।
 रात्रि में भोग मोदक का, प्रभू को क्यों लगाते हैं ॥ ३ ॥
 न कोई देव देवी की, मूर्ति खाती नजर आती ।
 दिखा अंगुष्ठ मूरति को, पुजारी' माल खाते हैं ॥ ४ ॥
 कटावें पेड़ कदली के, बनावें पुष्प के बंगले ।
 भक्ति को मुक्तिदा कहके, जीव बेहद सताते हैं ॥ ५ ॥
 सरासर दीन जीवों के, प्राण लूटें करें पूजा ।
 बतावें अङ्ग परभावन् कुयुक्ति पठ लगाते हैं ॥ ६ ॥
 सुगुरु श्री भगन मुनिवर को, चरण चैरो कहे 'माधव' ।
 धर्म के हेतु हिंसा जो, करें सो कुगति जाते हैं ॥ ७ ॥

पृष्ठ	प०	अध्याय	शुद्ध
४०	शीर्षक	सुगिषा	सुगिषा
	८	ऐसा है	ऐसा किया है
		अर्थ है	अनर्थ है
४४	४	पठन	पाठन
४५	१४	में	से
४५	१४	महिता	मार्हता
४६	५	शुभ	शुभ
५०	५	महाभूर	महाभूर
५१	५	स्तनो	स्तनो
५१	१३	ओर	ओर
५२	३	मूर्ति में	मूर्तिमें
५३	१५	को मात्र ही कहते	मात्र कहने को ही
५३	१७	उनको	उनके
५३	२२	मूर्ति	मूर्ति
५४	२३	निर्मतायुक्तिर्याः	निर्गतायुक्तिर्यस्याः
५४	१	यह	•
५४	१०	प्रयों	प्रयों
	११	आगमाशय	आममाशय
५५	४	सामायय	सामायिक
५०	७	प्रसित	प्रसीत
	१५	विपर्यय	विपर्यय
५१	१६	और प्रार्थारक्त	•
५३	१५	आचार्य वैवरक्त	आचार्य वैव रक्त
	१४	नीत	पुनीत
५५	१४	मी	पी

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
६७	२	क्या	तो
७०	५	हितचिन्तक	हितचिन्तन
७०	२४	फल्यो	कल्यो
७१	७	थथा	थता
७१	१६	मुखराशाकशीभिन	मुखराशोकशोभिनः
७२	३	मालव्य	मालंध्य
७४	११	कुतक	कुतर्क
७८	६	द्वेय	द्वेष
८१	५	गिना	गिनना
८२	१२	दान	दाना
८३	५	खावे	रक्खे
८६	६	हो	हों
८६	६	स्मारण	स्मरण
८७	२	ऐस	ऐसे
८८	६	भोजन	भाजन
९१	६	युगमें (काल)	युग (काल) में
९३	२	वह मूल्य	बहुमूल्य
९६	१६	की	भी
१०५	१७	मन	दमन
११७	२	न्याय मल	पाप मल
११७	७	की तरह	“की तरह”
११८	१५	अथ	अर्थ
११८	१५	नून	नूतन
११८	१५	पट	पेट

पृष्ठ

प०

अशुद्ध

शुद्ध

१२०

६

अनुगोक्ष

अनुगोक्ष

६

कर्त्तव्य

कर्त्तव्य

१२१

१०

पूजा

पूजा

१२२

२

मूर्तियों में

मूर्तियों

१२३

४

चित्र

चित्रता

१२४

२१

क्या हुई ?

क्या कैसे हुई ?

१२५

१६

मदिया

मदिया

१२६

१८

अंतर्दृष्टांग

अंतर्दृष्टांग

१२७

१८

साधु त्यागी

त्यागी साधु

१२८

२०

दिसा

दिखा

१२९

३

बख्ता उसको

उसको बख्ता

१३०

२०

यही

यह

१३१

४

असपा

असपा

१३२

१३

अनुचित

अनुचित

१३३

२

प्राण

प्राण

१३४

२३

(बोपी)

(बोपी)

१३५

३

जानेंगे

जानेंगे

१३६

११

अश

अश

१३७

४

मूलाशय

मूलाशय

१३८

१७

भय

भय

१३९

२

वर्त्य

वर्त्य

१४०

१७

आजकल

आजकल के

१४१

२५

राजा

राजा के

१४२

६

।

।

१४३

१०

।

।

१४४

१०

।

।

१४५

१०

।

।

१४६

१०

।

।

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१५५	१२	।	?
”	२४	था	थी
”	२५	आदि	आदि का
१५६	४	कि सं	कि प्रभु से
”	६	प्रशंसा	प्रशंसा
”	६	चरेण	चेरेण
१५८	७	साहणो	साहुणो
”	”	पडिल भई	पडिलभई
१५९	४	भोजनालय	(भोजनालय)
”	२१	सुपक्ति	सुपवित्त
१६०	१	कोई	०
”	३	ऊर्द्ध	ऊर्ध्व
१६२	१०	पाठान्त	पाठान्तर
१७०	२२	सू	सूत्र
१७१	२२	सत्र	सूत्र
१७२	१	मूर्ति	मूर्ति
”	२	मच्छीमारा	मच्छीमारों
”	१०	काई	कोई
१७३	१	जिन के	जिनके
”	६	नियुक्ति	निर्युक्ति
”	१५	”	”
”	”	का	की
१७४	१३	सवस्त	सर्वस्त
”	१६	देखन	देखने
१७५	६	ग्रथ	ग्रंथ

पृष्ठ	पं०	अध्याय	शुद्ध
१८०	२०	वारा	वारा
१८३	१७	कल्याण	कल्याण
१८४	२४	२२४	•
१८५	१५-१६	का लिखा	कालिका
१८६	४	जम्भ	जम्भ
१८७	२३	नरपं	नरपं
१८८	११	वर्णा	वर्णा



